आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य में भारतीय संस्कृति का स्वरूप

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० मालती तिवारी

रीडर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधार्थी

ऊषा मिश्रा

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

नवम्बर, १९८९

जिसे हम संस्कृति कहते हैं वह सम्पूर्ण समष्टि मानव के कल्याण के लिये है, क्योंकि वह निर्मात्री शक्ति है, अत: बहुत सी चीजों को वो सड़ी गली हैं छोड़ती जाती है और जो नये क्षेत्र में आती हैं, उन्हें ग्रहण करती है । जो चीज़ मानवता का उद्घाटन करती है उसे हम संस्कृति कहते हैं । संस्कृति मनुष्य के चित्त के संस्कार का परिणाम है । संस्कृति में देश की भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक उपलब्धियों का समाहार होता है ।

सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खमाग्भवेत् ।।

संसार भर के हित की भावना हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है । भारतीय संस्कृति ने सदा सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है । द्विवेदी जी का साहित्य सांस्कृतिक समन्वयता की श्रृंखला को दृढ़ करने वाला है । द्विवेदी जी का कथन है - भारतीय संस्कृति के सिद्धान्त कितने ही पुराने हो गये हों, किन्तु उसमें निहित सत्य यदि अब भी अपरिवर्तनीय है तो उसका महत्व स्वीकार करना ही चाहिए ।

द्विवेदी जी के साहित्य में भारतीय संस्कृति की जो एक विशेष दृष्टि है, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में भारतीय संस्कृति की वही दृष्टि दिखाने का प्रयत्न किया गया है । भारतीय संस्कृति सहिष्णुता, सहानुभूति, विशालता, अनवरत ज्ञान का मार्ग खोजते हुए आगे बढ़ना, संसार में जो कुछ सुन्दर व सत्य दिखाई दे उसे प्राप्त करके मानव-मात्र के प्रति कल्याण की भावना आदि गुणों से भारतीय संस्कृति अलंकृत है । उदार भावना और निर्मल ज्ञान के संयोग से जीवन सुन्दर होता है । भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि को समन्वित करती है । इसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति को महत्वपूर्ण स्थान

दिया गया है और `सर्वेषामु विरोधेन ब्रह्मकर्म समारम्भे` को मानती है ।

द्विवेदी जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति त्याग, संयम, सेवा, निष्ठा, प्रेम, ज्ञान, विवेक, तप, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना और सबसे महत्वपूर्ण बात समस्त धर्मों का मेल है, ये ज्ञानमय और कर्ममय है । भारतीय संस्कृति की आत्मा स्पृश्यास्पृश्य का विचार नहीं करती । सभी को प्रेम और विश्वास के साथ अपना कर ज्ञान, भक्ति व कर्म का अखण्ड आधार लेकर यह संस्कृति मांगल्य सागर की ओर ले जाने वाली है ।

हिन्दी साहित्य के किसी महत्वपूर्ण पक्ष के अनुशीलन की अभिलाषा अध्ययन-काल से ही थी । इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर प्रेरित न हो पाते यदि हमारी निर्देशिका स्नेहमयी डा० मालती तिवारी, रीडर, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय का स्नेहभरा प्रोत्साहन और सहज-स्वीकृति न मिलती । निःसन्देह विषय बहुत गम्भीर है । गम्भीर विषय की भाषा भी गम्भीर अवश्य होती है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह क्लिष्ट भी हो । वे इस दुर्गम अरण्य में हमारा निरन्तर पथ-प्रदर्शन करती रही हैं । उनके स्नेह से संवर्द्धित ज्ञानप्रदीप से भारतीय संस्कृति के इस गहन कान्तार में अपना पथ खोज सकी । उनके पथ-प्रदर्शन, प्रोत्साहन और प्रेरणा से इस शोधप्रबन्ध का सदा परिष्कार हुआ है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद का प्रतीक है ।

परम श्रद्धेय डा० श्री   , प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय की अपार अनुकम्पा हमें एक आयाचित किन्तु अदाय वरदान रूप में प्राप्त हुई है । उनके उदात्त गम्भीर व्यक्तित्व के सम्पर्क से, उनके सरल, सहज, स्नेहमय आदेशों से हमारे प्रयास को कितनी प्रेरणा मिली है, यह हमारे लिये अननुमेय है ।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० ईश्वरी प्रसाद के सहयोगी इतिहासकार श्री शैलेन्द्र शर्मा के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता   करती हूं जिनकी अनेक कठिनाइयों में हमारे ऊपर विशेष कृपा रही है ।

मेरे पति के अग्रज, प्रयाग विश्वविद्यालय, कार्यकारिणी परिषद् के वरिष्ठ सदस्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सहायक मंत्री, श्री श्यामकृष्ण पाण्डेय जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता होगी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति मैं अपनी गम्भीर एवं असीम श्रद्धा व्यक्त करती हूं जिन्होंने समय-समय पर हमारी पूर्णरूप से सहायता की है।

इस शोधप्रबन्ध कार्य के प्रारम्भ, प्रगति और मूर्त रूप आने तक में हमारी आत्मा के अनेक अभिभावकों एवं गुरुजनों का सहयोग रहा है, मानवीय शब्दों का दैन्य ऐसे ही अवसरों पर उभरता है क्योंकि सद्गुरुजनों के प्रति भाव व्यक्त करने में हमारी लेखनी सर्वथा असमर्थ है। भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान सर्वोच्च माना गया है, इसी का अनुसरण करते हुए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिन्होंने शोधकार्य में सहायता दी है, उन गुरुजनों के प्रति मैं विनम्र श्रद्धा अर्पित करती हूं।

विषय-क्रम

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

-०-

जीवन-परिचय -

आधुनिक भारतीय साहित्य धरा पर गंगा का अवतरण करने वाले निर्भय, अडिग, स्वाभिमानी और स्पष्टवादी, परिपक्व विचारक, सरल सहृदय, विचारशील, मानवता के प्रेमी, उत्कट मानवतावादी, समन्वयकारी, रागात्मक हृदय-युक्त साहित्य-पुरुष, साहित्य-महर्षि, साहित्य-देवता, साहित्यकारों के प्रजापति, इतिहास लेखन में रस का दोहन करने वाले, जीवन में सरसता, निर्भीकता और नैतिक आदर्शों के प्रति समर्पित, ज्योतिषज्ञाता एवं धर्म और संस्कृति के गुरु आदि विशेषणों से युक्त आचार्य पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का जन्म उन्नीस अगस्त[1] उन्नीस सौ सात ई० (विक्रम संवत् १९६४ शुद्ध श्रावण शुक्ल एकादशी) को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में ओझवलिया ग्राम के `आरत दुबे का छपरा` नामक गाँव में हुआ था। `आरत दुबे का छपरा` द्विवेदी जी के प्रपितामह, जो एक ज्योतिषी थे, `पंडित श्री आरत दुबे` के नाम पर हुआ था। निश्चय ही तब उनके परिवार की आर्थिक दशा अच्छी रही होगी। द्विवेदी जी के पिता का नाम पंडित अनमोल द्विवेदी था। वे धार्मिक प्रवृत्ति और अध्ययनशील सहृदय व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम था— पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की माता का नाम परमज्योति देवी था।

द्विवेदी जी का राशि नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था। जन्मोपरान्त उनके पिता, जो आर्थिक दुर्दशा से ग्रस्त थे, को बारह सौ रुपयों की प्राप्ति हुई। पिता ने इसे पुत्र का सौभाग्य-सूचक संकेत मानकर बालक वैद्यनाथ द्विवेदी का नामकरण हजारी प्रसाद द्विवेदी कर दिया। बाद में अज्ञेय पत्रिका जी `को लिखे गये पत्र में द्विवेदी जी ने इस घटना की चर्चा करते हुए लिखा है कि `जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन किसी मुकदमें

१- हजारी प्रसाद ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृष्ठ ३८६

की बिक्री में घरवालों को १२०० रुपये मिल गये । उसकी खुशी में मेरा मूल नाम भुलवा दिया गया और मदरसे के रजिस्टर से लेकर विशाल भारत के पन्नों तक में दो सौ कम करके हजार रुपये की स्मृति को ढोने वाला यह भाग्य नाम ऐसा प्रसिद्ध हुआ कि लक्ष्मी देवी ने क्रोधवश शाप दे दिया कि 'हजारी' रह से आगे तुम इस जन्म में नहीं बढ़ सकते[1]।

शिक्षा—

द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा अन्य सामान्य बालकों की भांति बलिया जिले के रेंपुरा में स्थित प्राइमरी स्कूल में प्रारम्भ हुई । १९२० ई० में उन्होंने बसरिकापुरा मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में माध्यमिक परीक्षा पास की । द्विवेदी जी के बाबा पण्डित 'बांके बिहारी दुबे', बालक द्विवेदी जी की शिक्षा-दीक्षा में विशेष रुचि रखते थे । उन्हीं के निरीक्षण और संरक्षण में द्विवेदी जी ने में ही भारत-भारती, जयद्रथ-वध आदि कंठस्थ कर लिया था । लगभग १५ वर्ष की आयु में वैदिक साहित्य के अनेक ग्रन्थ और तुलसीकृत रामचरितमानस, लघुसिद्धान्त कौमुदी आदि का अध्ययन द्विवेदी जी ने कर लिया था । ब्राह्मण संस्कारी बालक के लिये उन दिनों संस्कृत पढ़ना आवश्यक माना जाता था । अतः द्विवेदी जी ने संस्कृत का अध्ययन किया और बिरला छात्रवृत्ति के रूप में १५ रुपये मासिक पाना प्रारम्भ किया । स्वभावानुसार शनैः शनैः वे हिन्दी साहित्य के अध्ययन में गहरी रुचि लेने लगे। १९२३ में रणवीर संस्कृत से प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की । तदनन्तर १९२९ में साहित्याचार्य तथा १९३० में शास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की । इसके पूर्व उन्होंने १९२७ ई० में काशी हिन्दू से अंग्रेजी की प्रवेश परीक्षा (हाई स्कूल) पास की । १९२९ ई० में उन्होंने इण्टरमीडिएट की परीक्षा भी पास की । १९३२ ई० में वे स्नातक परीक्षा में बैठना चाहते थे किन्तु नेत्र रोग के कारण वे अपनी पूरी न कर पाये और अध्ययन समाप्त कर

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड ११, पृष्ठ ४८१

दिया । इससे पूर्व १९३० ई० में उन्हें शान्ति निकेतन से अध्यापन कार्य करने के लिये आमंत्रण प्राप्त हुआ । ८ नवम्बर १९३० को उन्होंने यह कार्यभार संभाला । द्विवेदी जी इस तिथि को बहुत महत्त्व देते हैं । उन्होंने `सुमन जी' के नाम पत्र में लिखा है, `आप जानते ही हैं कि ६, ७, ८ नवम्बर मेरे द्विजत्व-प्राप्ति की तिथि है ।'[१]

लगभग बीस वर्ष की आयु में उनका विवाह भगवती देवी के साथ सम्पन्न हुआ । उनके चार पुत्र एवं तीन पुत्रियां हैं ।

१९३० से १९५० ई० तक शान्तिनिकेतन में अध्यापन कार्य करते रहे। कलकत्ता : १९४०-४६ ई० तक अभिनव भारती ग्रन्थमाला का सम्पादन किया । `विश्वभारती' पत्रिका का सम्पादन १९४१ से १९४७ ई० तक किया । हिन्दी भवन विश्वभारती के संचालक १९४५ से १९५० तक रहे । लखनऊ विश्वविद्यालय से १९४९ ई० में डाक्टर आफ लिट्रेचर की उपाधि से सम्मानित हुए । १९५० ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर और हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष बने । १९५०-५३ तक `विश्वभारती' विश्वविद्यालय की एक्ज़ीक्यूटिव काउन्सिल के सदस्य रहे और १९५२-५३ तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष भी रहे । साहित्य अकेडेमी दिल्ली की सभा और प्रबन्ध समिति के सदस्य थे । काशीनागरी प्रचारिणी सभा के हस्त लेखों की खोज वर्ष १९५२ में तथा साहित्य से `नेशनल बिब्लोग्रेफी' के निरीक्षक वर्ष १९५४ में हुए । १९५५ ई० में राजभाषा आयोग के राष्ट्रपति द्वारा सदस्य मनोनीत हुए । १९५७ ई० में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा ण से सम्मानित किया गया । १९६०-६७ तक पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में हिन्दी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते रहे । १९६२ ई० में पश्चिम बंग साहित्य द्वारा टैगोर पुरस्कार से हुए ।

१- ह० प्र०.ग्रन्था खण्ड ११, पृष्ठ ५१६

१९६७ ई० में पुन: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। १९७३ ई० में केन्द्रीय साहित्य अकेडेमी द्वारा पुरस्कृत हुए। जीवन के अन्तिम दिनों में `उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान` के उपाध्यक्ष हुए और १९ मई १९७९ ई० को दिल्ली के आयुर्विज्ञान संस्थान में सायं ५ बजे पञ्चतत्व में विलीन हो गये।

<u>अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र</u> —

द्विवेदी जी के अध्ययन का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत और बहुविधायी है। वे अपने अध्यापन काल में भारतवर्ष के अनेकानेक विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रहे। अनेक साहित्यिक शैक्षिक समितियों आदि से भी वे किसी न किसी रूप में संयुक्त थे। भारतीय सरकार ने भी शिक्षा और विद्या के क्षेत्र में अनेकानेक योजनाओं की प्रस्तुति और पूर्ति के लिये उनसे सहयोग लिया। वे केन्द्रीय साहित्य अकेडेमी तथा हिन्दी भाषा की प्रबन्ध-समिति से जुड़े हुए थे। ये सभी तथ्य इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं कि द्विवेदी जी एक प्रभूत विद्वान थे और के क्षेत्र में उनकी गहरी पैठ थी।

ज्योतिष के प्रति रुचि द्विवेदी जी को परिवार परम्परा के रूप में मिली थी। उन्होंने अपने अध्ययन में इस परम्परा को निबाहा और ज्योतिष का सर्वांगपूर्ण अध्ययन किया। प्रसंगवश उन्होंने यह भी कहा है कि `इण्टर की बैतरिणी पार करने के लिये मैंने ज्योतिषाई भी की और जीवन में इसने दो बार क्या बांधी है`। द्विवेदी जी का अध्ययन-क्षेत्र साहित्य है और वे एक साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं।

का अध्ययन करते हुए उन्होंने , भवभूति, भारवि, अपभ्रंश , सिद्ध और नाथों का , जैन और बौद्धों का , सूर, तुलसी, केशव, कबीर, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि के का सूक्ष्म अध्ययन किया। वस्तुत: उन्होंने धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान आदि का भी गहरा अध्ययन किया था।
अपने मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन करते हुए

बंगला तथा अंग्रेजी भाषाओं के ज्ञाता थे। उनके अध्ययन का एक अन्य क्षेत्र इतिहास है, उसके गहन अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन करते हुए इतिहास को साहित्य रस से ओत-प्रोत किया है।

प्रेरणा के स्रोत —

द्विवेदी जी के प्रेरणा के स्रोत का संकेत हमें उनके इस कथन से मिलता है जिसमें उन्होंने 'शान्तिनिकेतन' में अध्यापक के रूप में नियुक्ति को द्वितीय प्राप्ति की तिथि माना है। वे इस तिथि को अपना दूसरा जन्म मानते हैं। यहां पर वे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर, महामहोपाध्याय पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य, आचार्य नन्दलाल बसु, श्रीमान् दीनबन्धु, आचार्य क्षिति मोहन सेन तथा सी० एफ० एन्ड्रूज आदि समकालीन विद्वानों के सम्पर्क में आये। शान्ति निकेतन में ही वे पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पर्क में आये और इन सब चोटी के विद्वानों के सान्निध्य की प्रेरणा से उन्होंने विशाल भारत के लिये लिखना प्रारम्भ किया। अब वे इस स्थिति में थे कि मूर्धन्य विद्वान उन्हें प्रोत्साहित करते तथा समकक्षी उन्हें साहित्य सेवा के लिये प्रेरित करने लगे। द्विवेदी जी स्वयं इतने सरल स्वभाव के थे और इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा को अनावृत कर दिया।

१९३२ ई० में सूर साहित्य की रचना की तथा इसका प्रकाशन १९४० ई० में हुआ। विविध प्रेरणाओं से प्राप्त अनुभूतियों को उन्होंने इस ग्रन्थ में अभिव्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षिति मोहन सेन का यह वक्तव्य विशेष है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति तत्व, प्रेम तत्व, राधाकृष्ण मतवाद आदि के सम्बन्ध में जो कुछ भी उल्लेख योग्य जहां कहीं से भी पा सके हैं, उसे इस ग्रन्थ में संग्रह किया है और उस पर भली-भांति विचार किया। केवल अध्ययन ही नहीं वरन् जी ने जीवन में अपने चारों ओर जो कुछ देखा-सुना, अनुभव किया वह सभी उनकी प्रेरणा का स्रोत रहा। लेखन में प्रोत्साहन की चर्चा करते हुये जी ने

लिखा है — `. . . पर प्रोत्साहन कैसा हो ? यह प्रश्न है । मैं वास्तविक परिस्थितियों का सामना करने को कहता हूं । कवि सम्मेलनों में तालियां पिट जाना एक प्रोत्साहन है, गरीबी की मार से बचने में सहायता करना दूसरा प्रोत्साहन है, लिखी हुई पुस्तक पर `पुरस्कार` या पारितोषिक देना भी एक प्रोत्साहन है, पर इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो प्रतिभा को निखार सके. ... पर इनको अपेक्षा आवश्यक वस्तु है, वातावरण में रखना, वातावरण पैदा करना ।[१]

स्वभाव और व्यक्तित्व—

सरल, सहज और अकृत्रिम । यह तीन विशेषण द्विवेदी जी के लिये उपयुक्त रूप से प्रयोग किये जा सकते हैं । सरल स्वभाव के कारण वे अत्यन्त सहज थे और सहजता ने उनके व्यक्तित्व में स्वाभाविक अकृत्रिमता ला दी थी । खादी की धोती, कुर्ता, कन्धे पर पड़ा उत्तरीय और निश्चिन्त भाव से बार-बार उत्तरीय या चादर को और उन्नत ललाट, मुख में पान और शास्त्रों से मुख बुद्धि की पुष्टि के लिये उदाहरण देना, उनके व्यक्तित्व में एक अपनापन सा समाविष्ट किये हुए था । लगता था जैसे भारतीय संस्कृति में डूबा हुआ कोई ऋषि मुनि वेश बदल कर आधुनिक ग्रामीण परिवेश में अपनी सम्पूर्ण विद्वता और ज्ञान की परिपक्वता को अपने में समेटे हुए हैं । स्वाभाविकता वस्तुत: किसी भी व्यक्ति का एक ऐसा गुण है जो का भाव लिये रहता है । प्राय: उनको सुनने वाला उनकी वाणी और व्यक्तित्व से अभिभूत हो जाता था । उनका हृदय सभी के प्रति निष्कपट था, यदि उनका किसी से विरोध भी होता तो वे अपने सहज और सरल स्वभाव से ऐसा व्यवहार करते कि विरोध स्वयमेव कम हो जाता । अनेक मित्रों ने उनके विनोदी और हास्य से परिपूर्ण स्वभाव की चर्चा की है । उनका कहना है कि द्विवेदी जी स्वभाववेश

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृष्ठ ३५५

ऐसे थे कि किसी से भी सहायता की अपेक्षा नहीं रखते थे । बचपन से आर्थिक कष्टों को झेला था परन्तु उन्होंने कभी भी आवश्यकता से अधिक धन कमाने या संचय करने की चेष्टा नहीं की । स्वावलम्बन में ही वे स्वाभिमानी थे परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि द्विवेदी जी अहंकारी थे ।

उपकार करके वे प्रत्युपकार की अपेक्षा रखना उचित नहीं मानते थे । अनेक उच्च पदों को सुशोभित करने पर भी उन्होंने कभी अपने परिचितों अपेक्षाकृत अपने से छोटों, निर्धन, असहाय आदि की उपेक्षा नहीं की । उन्हें प्रतिभा की पहचान थी, साहित्य साधना में संलग्न व्यक्तियों को प्रोत्साहन एवं उनकी सराहना करने में आत्म-सुखी होते थे । द्विवेदी जी ने कभी भी दूसरे के अहित को सोचकर भी अपने चित्त को दूषित नहीं किया । जीवन को उन्होंने खेल माना । स्वयं उन्होंने लिखा है -- दुनियां खेल का मैदान है खेल में क्या हार और क्या जीत । लड़के भी खेल में रोने से खिझाते हैं तो इस दुनियां को खेल ही माना जाय । जब तक खेला जाय तब तक जमकर खेला जाय । हार जाये तो राम राम जीत गये तो राम राम[1] । अनेक उच्च पदों पर कार्य किया और इस बीच उनके ऐसे अवसर भी आये होंगे जबकि उन्हें उचित अधिकार प्रयोग द्वारा किसी को असन्तुष्ट करना पड़ा हो परन्तु ऐसे व्यक्ति के प्रति भी उनके हृदय में सहानुभूति रहती थी । मा   की परिकल्पना उनके सरल, सहज और अकृत्रिम स्वभाव से ही उपजी थी । वे एक कुशल वक्ता थे, भाषण देने खड़े होते तो उनके अन्त:करण से निकले हुए शब्द और विचार   को किंकर्तव्य विमूढ़ कर देते थे ।

<u>कृतियां —</u>

द्विवेदी जी की प्रत्येक कृति अतीत के सुविचारित बोध के साथ ही भविष्य का   और पावन सन्देश देती है । जीवन के अनेकों विभाग

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृष्ठ ३८८

परिस्थितियों में रहकर उन्होंने जो साहित्य सर्जना किया वह उनके व्यक्तित्व को कालजयी बनाने में पूर्णरूप से सक्षम है । उनका साहित्य-क्षितिज अत्यन्त विस्तृत है इसीलिये उनका साहित्य, इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृत आदि अनेक विधाओं को समेटे हुए है । उनकी रचनायें निम्न हैं --

(१) आलोचना ग्रन्थ -

(१) सूर साहित्य, (२) कबीर, (३) साहित्य का मर्म, (४) मध्यकालीन बोध का स्वरूप, (५) कालिदास की लालित्य योजना, (६) मृत्युंजय रवीन्द्र ।

(२) उपन्यास -

(१) बाणभट्ट की , (२) पुनर्नवा, (३) चारु चन्द्रलेख, (४) अनामदास का पोथा ।

(३) ऐतिहासिक ग्रन्थ -

(१) हिन्दी साहित्य की भूमिका, (२) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, (३) हिन्दी साहित्य, (४) नाथ सम्प्रदाय ।

(४) निबन्ध संग्रह -

(१) साहित्य सहचर, (२) निबन्ध संग्रह, (३) कुटज, (४) विचार प्रवाह, (५) विचार और वितर्क, (६) , (७) आलोक पर्व, (८) अशोक के फूल ।

(५) अनुदित ग्रन्थ -

(१) की भारतीय परम्परा और दशरूपक, (२) लालकनेर ।

(६) ग्रन्थ -

(३) हिलाई चरित, (४) पण्डित जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ, (५) रामानन्द की हिन्दी रचनाएं।

(७) धर्म-कला संस्कृति -

(१) प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, (२) सहज साधना, (३) मध्यकालीन धर्म साधना।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाले स्रोत--

आचार्य द्विवेदी द्वारा रचित साहित्य का क्षेत्र अति व्यापक है। उनके साहित्य की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए आलोचक डा० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है -- आचार्य द्विवेदी ने भारतीय इतिहास का दोहन किया है, भारतीय साहित्य का मंथन किया है, रवीन्द्र साहित्य को आत्मसात् किया है, कालिदास साहित्य में रसपान किया है, आधुनिक और मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अनुशीलन किया है और डा० द्विवेदी ने पाश्चात्य साहित्य, ज्ञान विज्ञान और भाषा विज्ञान का परिशीलन किया है।[१] द्विवेदी जी को 'संस्कृति के प्रतीक और ' के रूप का वर्णन करते हुए विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है -- 'आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक अभिरुचि और प्रवृत्ति का आकलन करने पर जो तथ्य उभर कर सामने आता है वह है उनका सांस्कृतिक प्रेम। संस्कृति की परिभाषा, व्याख्या, विश्लेषण, स्वरूप निर्धारण आदि के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी सभी कृतियों में कुछ न कुछ अवश्य कहा है। यदि सभी कृतियों उनके संस्कृति विषयक विचारों का संकलन किया जाय तो निश्चय ही संस्कृति की विशद् व्याख्या प्रस्तुत करने वाला प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार हो जायेगा।'[२]

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया जा

१- आचार्य ह० प्र० द्विवेदी - व्यक्तित्व और कृतित्व- आमुख, पृष्ठ ३

२- ह० प्र० - संस्कृति के प्रतीक और , पृष्ठ ८८
- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी।

जा चुका है कि वे अपने व्यवहार, आचरण, स्वभाव, रुचियों, वेशन, भाषा, चिन्तन-मनन और अभिव्यक्ति में भारतीय संस्कृति के प्रतीक प्रतीत होते हैं अथवा संक्षेप में यह कह सकते हैं कि साधक जब साधना करते-करते साध्यमय हो जाता है तो वह संस्कृति बन जाता है। उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति पग-पग पर अपने को अभिव्यक्त करती प्रतीत होती है। भारत की जो सांस्कृतिक परम्परा रही है, आचार्य जी सच्चे अर्थों में उसके प्रतिनिधि हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य सांस्कृतिक है, उसमें संस्कृति की सर्जनात्मकता, सरलता और निरन्तरता है। उनके चिन्तन में दर्शन की गम्भीरता है, उनकी अभिव्यक्ति में कला का आकर्षण है। वे भारतीय संस्कृति के साक्षात जीवन्त प्रतीक थे। साहित्य के क्षेत्र में उनके जैसा मौलिक चिन्तन होते , विशुद्ध कल्पना के उदाहरण कम ही मिलते हैं। भावना, विचार और चिन्तन के क्षेत्र में उन जैसे प्रौढ़ आत्मविश्वासी विरले ही मिलेंगे। उनका व्यक्तित्व संस्कृति की साधना में जितना सरल, मधुर, कोमल है साहित्य के क्षेत्र में उनका कृतित्व उतना ही उदात्त, व्यापक, अनुभूतिपूर्ण और विराट है।

वस्तुत: द्विवेदी जी ने जिस अवधारणा के अन्तर्गत अपने साहित्य में संस्कृति का बोध कराया है, वह कतिपय भारतीयों और विदेशी इतिहासकारों द्वारा भारतीय साहित्य के प्रति अपनायी गयी बद्धमूल धारणा के प्रत्युत्तर में किया है। कुछ विदेशी इतिहासकारों की धारणा रही है कि भारतीय संस्कृति ह्रास की कथा है -- राजाओं के अवरोह आरोह, हाथियों और की कथायें, कपोल-कल्पित पौराणिक कथायें, अन्धविश्वास, अकाल और जंगल, काले नाग और मच्छर, अस्पृश्यता, रूढ़ियां और । यद्यपि अनेक विद्वान भारतीयों ने इस धारणा का अनेक दृष्टियों से खण्डन किया है और विविध सांस्कृतिक तथ्यों का न्यूनाधिक संग्रह करके इस धारणा को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास किया है तथापि वे संस्कृति के स्वरूप और प्रक्रिया की सैद्धान्तिक विवेचना नहीं कर पाये हैं। वे लोग , राजनीति, , मूलत: क्रिया में और धारणाओं को यथारुचि चुनते और

व्यवहार में ढालते रहे हैं । उनमें से अधिकतर विद्वान उन्नीसवीं शताब्दी के विपरीत नेहरू दृष्टिकोण को अपनाते रहे हैं । यद्यपि कुछ ने भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करना प्रारम्भ किया है । अनेकों ने अन्ध-राष्ट्रीयता अथवा साम्प्रदायिकता पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है परन्तु द्विवेदी जी ने अपने साहित्य-लेखन में जो दृष्टिकोण अपनाया है वह भारतीय संस्कृति के प्रति अपनाये गये पाश्चात्य तथा कतिपय भारतीय विद्वानों की धारणा को सफल रूप में पराजित कराती है ।

भारत को भौतिकवादी दृष्टि से नाना राष्ट्रों, जातियों का जमघट माना गया है न कि एक राष्ट्र । भारत के विभिन्न प्रदेशों में शारीरिक गठन, पहनावा, खानपान, भाषा, सामाजिक रहन-सहन और रीति-रिवाज स्पष्ट रूप से पृथक्ता है । यदि संस्कृति भौतिक और बाह्यवस्तुओं का संस्थान विशेष है तो भारतीय संस्कृति की व्याप्ति निश्चय ही एक भ्रान्ति है । परन्तु युक्ति और बुद्धि से अनुभव और शोध से जब भारतीय संस्कृति का निरूपण किया जाता है तो भारतीय संस्कृति अपने भव्य रूप में संसार को प्रकाशित करने लगती है । द्विवेदी जी ने अपनी पद्धति से भारतीय संस्कृति को सदा का ही अपलाप करने वालों की गज निमीलिका से इतना ही निवेदन अभीष्ट किया है कि वे राजनीति से प्रेरणा न लेकर भारत के   से प्रेरणा लें । उन्होंने भारतीय संस्कृति के समस्त पक्षों को जो मूर्त रूप प्रदान किये हैं वे   तक हमारे लिये मार्ग-दर्शक तथा दिशाबोधक रहेंगे । उनके जैसे संस्कृति के एक लम्बे अन्तराल में पैदा होते हैं । उन्होंने सांस्कृतिक पक्ष और उसके   ,   पक्ष का मंथन करके संस्कृति का अमृत कुम्भ अपने   से उत्पन्न किया है ।

द्वितीय अध्याय

-0-

भारतीय संस्कृति का विकास-क्रम

१- द्विवेदी जी के वाङ्मय में संस्कृति

२- संस्कृति का अर्थ - परिभाषा

३- संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप

४- सभ्यता और संस्कृति

५- संस्कृति के अंग और विशेषतायें

६- भारतीय संस्कृति की विशेषता

७- भारतीय संस्कृति का विकास

८- प्राचीन भारतीय संस्कृति

९- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

१०- आधुनिक भारतीय संस्कृति

द्विवेदी जी के वाङ्मय में संस्कृति -

द्विवेदी जी का समस्त साहित्य भारत की सम्पूर्ण संस्कृति के रूप-स्वरूप को पूरी तरह से अपने में समाविष्ट किये हुए है । यद्यपि उन्होंने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति का क्रमानुसार वर्णन नहीं किया है, तथापि उनके साहित्य के अध्ययन द्वारा संस्कृति की परिभाषा, प्रकृति तथा विकास को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है ।

द्विवेदी जी एक बहुमुखी साहित्यकार थे । उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में सफल प्रयोग करके जो साहित्य प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में ज्ञान का भण्डार जैसा प्रतीत होता है । जहां तक संस्कृति की विविध विधाओं का सम्बन्ध है द्विवेदी जी द्वारा सर्जक साहित्यकार के रूप में लिखे गये चारों उपन्यास और सभी निबन्ध एवं भाषण, इतिहास ग्रन्थ, समीक्षक के रूप में सूर, तुलसी, कबीर, कालिदास, साहित्य मर्म आदि विशुद्ध संस्कृति और कला के सम्बन्ध में रचित मध्यकालीन धर्म साधना और प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन सभी का आकलन करने पर स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने निबन्धों एवं यत्र-तत्र रचनाओं में संस्कृति की परिभाषा, उसके तत्वों तथा रूप-स्वरूप एवं , मौलिक विशेषताओं आदि के विषय में मुक्त अभिव्यक्ति की है ।

संस्कृति वह प्रक्रिया है जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है । इस निष्पन्न व्यक्तित्व के द्वारा समाज के सदस्यों को जीवन और जगत के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण मिलता है । साहित्यकार इस अभिनव दृष्टि के साथ अपनी प्रतिभा का करके सांस्कृतिक मान्यताओं का निरीक्षण करते हुये उनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता प्रतिपादित करता है ।

तत्र सर्वत्र संस्कृति और साहित्य का अपूर्व सामंजस्य मिलता है । संस्कृति के विषय में द्विवेदी जी की धारणा बड़ी स्पष्ट और उदार है । वे संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति मानते हैं ।[1] उन्होंने संस्कृति को किसी देश, जाति, धर्म या सम्प्रदाय में सीमाबद्ध नहीं किया है । वे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । उन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा है -- "मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता । मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है[2]। उनकी मान्यता है कि संस्कृति के माध्यम से ही मनुष्य महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को प्राप्त करता है ।

संस्कृति का अर्थ -

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त किया जाने वाला `संस्कृति` शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है । अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा करना कठिन माना जाता है, `संस्कृति` भी एक ऐसा ही शब्द है । `संस्कृति` शब्द `सम` + कृति है । इस शब्द का मूल `कृ` धातु में है । विद्वान वैयाकरण `संस्कृति` शब्द का उद्गम सम् + कृ से भूषण अर्थ में `सुट्` आगम पूर्वक क्तिन लेकर सिद्ध करते हैं । इस दृष्टिकोण से संस्कृति का शाब्दिक अर्थ- सम प्रकार अथवा भली प्रकार किया जाने वाला व्यवहार अथवा क्रिया है । यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक है । संस्कृति शब्द को संस्कार से भी जोड़ा जाता है । अनेक भाषाओं में संस्कृति के लिये जो विभिन्न शब्द मिलते हैं, उन सभी से संस्कृति का सम्बन्ध क्रिया, व्यवहार, उत्पादन, संस्कार तथा परिष्कार से जुड़ा

१- हजारी प्रसाद ग्रन्थावली - खण्ड ९, पृष्ठ २६४

२- ह० प्र० ग्रन्था० - खण्ड ९, पृष्ठ २००

मिलता है। संस्कृति में व्यक्ति तथा समाज के लक्षणों को पहचाना एवं परखा जा सकता है।

संस्कृति की परिभाषा -

संस्कृति का अर्थ बड़ा ही व्यापक है। इसकी व्यापकता के फलस्वरूप संस्कृति की परिभाषा भी अनेक दृष्टिकोणों से की गयी है। व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति-विषयक भारतीय विद्वानों के अनेक मत हैं--

'संस्कृति.... विवेक बुद्धि का, जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम है।'[1]

श्री वाचस्पति गैरोला के शब्दों में -- 'समस्त मानव-समाज के विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियां ही संस्कृति है।'[2]

चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और क
बनाने के लिये मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानव की युग-युग की साधना को ही संस्कृति मानते हैं--'मनुष्य की श्रेष्ठ   ' ही संस्कृति है।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के पावन प्रवाह में ही अन्तर्वृत्तियों का संस्कार-परिष्कार तथा मानव जाति का श्रेय सम्पादन होता है -मांगी-संचारी जीवन-वृत्ति तथा जीवन-चर्या का ही नाम संस्कृति है।[5]

१- डा० राधाकृष्णन - स्वतन्त्रता और संस्कृति, पृष्ठ ५२
२- श्री वाचस्पति गैरोला- भारतीय संस्कृति और कला, पृष्ठ ६०
३- डा० सत्यकेतु - भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ १६
४- ह० प्र० ग्रन्था - खण्ड - ६, पृष्ठ २००
५- डा० बलदेव प्रसाद मिश्र- भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ५

आप्टे के संस्कृत कोश में `संस्कृ` धातु का अर्थ सजाना, संवारना, सुशिक्षित करना, पवित्र करना, मांजना आदि है ।

आचार्य द्विवेदी जी के ही शब्दों में -- नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम `संस्कृति` शब्द के द्वारा व्यक्त करते हैं ।[1]

संस्कृति सम्बन्धी विविध अवधारणाओं के सन्दर्भ में द्विवेदी जी द्वारा अभिव्यक्त विचारों पर एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए यह कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव को दशा तथा दिशा का बोध कराती है । संस्कृति को मानव की समस्त उपलब्धि माना जा सकता है । संस्कृति के गुणों के वशीभूत होकर ही मनुष्य उन क्रियाओं को करता है जो उसे ज्ञान-विज्ञान, समाज, धर्म, साहित्य, कला, दर्शन और चिन्तन की ओर उन्मुख करती हैं । मानव सभ्यता के विकास की कहानी संस्कृति के रूपों का ही गुणगान करती है ; मानव की समस्त क्रियाओं, व्यवहारों, उत्पादन, परिष्कार एवं उन्नति का मिला-जुला रूप ही संस्कृति है । प्राणि जगत में मनुष्य की स्थिति को अलग करने का श्रेय केवल उसमें निहित संस्कृति को ही प्राप्त है ।

संस्कृति मानव सभ्यता का सार तत्व है । द्विवेदी जी ने लिखा है - `आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्य-बोध को तीव्रतर करने की योजना ये चार सभ्यता के स्तम्भ हैं । इन सबके           प्रभाव से संस्कृति बनती है ।`[2]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड - ६, पृष्ठ २२६

२- भारतीय संस्कृति की देन - ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २०१

संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप -

विश्व में संस्कृति के अनेक रूप हैं । तुलनात्मक दृष्टि से ये एक दूसरे से समानता और भेद रखते हैं और सुविधानुसार अनेक नाम भी दिये गये हैं । हिन्दू संस्कृति, मुसलमान संस्कृति या पूर्व की संस्कृति और पश्चिम की संस्कृति अलग-अलग शब्द हैं । परन्तु इन सबके कुछ मौलिक लक्षण हैं जो सभी संस्कृतियों में समान रूप से विद्यमान हैं। इन मौलिक लक्षणों में ही संस्कृति की प्रकृति निहित है । संस्कृति की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि - (१) संस्कृति एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा संस्कृति का प्रवाह निरन्तर तथा अनवरुद्ध है, (२) संस्कृति का स्वरूप आदर्श होता है, (३) संस्कृति में की क्षमता होती है एवं संस्कृति व्यवहारिक होती है, (४) संस्कृति में मानव की भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति का समन्वय होता है । जीवन का कोई भी अंग संस्कृति की परिधि के बाहर नहीं है । संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन की सर्वांगपूर्ण अवस्था है । यह जीवित रहने का ढंग है । जन्म से लेकर मृत्यु तक तथा उसके भी उपरान्त जन्म-जन्मान्तर तक संस्कृति समस्त मानव चेतना को व्याप्त किये हुए है ।

व्यक्ति के आचरण, चिन्तन, क्रियाशीलता, ज्ञान, एवं कल्पना में संस्कृति का ही रूप स्थित है । संस्कृति मानव जीवन के आन्तरिक तथा बाह्य रूप को समान रूप से व्याप्त किये हुए है । संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार मनुष्य के साथ-साथ चलता है ।

सभ्यता और संस्कृति—

संस्कृति के बाह्य पक्ष को ही सभ्यता कहते हैं । सभ्यता कुछ अर्थों में की की द्योतक होती है— सभायां साधुः सभ्यः । किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द रहन-सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों, जैसे - , , ज्ञान-विज्ञान आदि की उन्नति पर लागू होता है[१]।

१- बाबू गुलाब राय - भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ४

स्पेंगलर के शब्दों में - 'संस्कृति स्थूल होकर सभ्यता बन जाती है, एक निश्चित आकार ग्रहण कर लेती है जिसमें कोई और रूप धारण करने और आगे विकास की क्षमता नहीं रह जाती ।' सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों को प्राय: साथ-साथ प्रयुक्त कर दिया जाता है । इन दोनों शब्दों को एक साथ प्रयुक्त करने का कारण इनकी व्यापकता है । सभ्यता तथा संस्कृति मानव समाज की उपलब्धियों की ओर संकेत करती है । आचार्य द्विवेदी जी के विचार से 'हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले 'सभ्यता' और 'संस्कृति' शब्द नये हैं और इन्हें अंग्रेजी भाषा के 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' शब्दों के अर्थ में समझ लेना विशेष सहायक होगा । जब मनुष्य सत्य की ओर अग्रसर होता है तो सभ्यता का जन्म होता है और जब मनुष्य को सत्य की प्राप्ति हो जाती है तो उसके क्रिया-कलाप, विचार एवं कल्पना आदि परिष्कृत हो जाते हैं । यह परिष्कार ही संस्कृति है[1] । सभ्यता तथा संस्कृति का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना असम्भव सा है । सभ्यता का विकास सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में होता है । मनुष्य के सामाजिक प्रयासों द्वारा सभ्यता तथा सभ्यता के साथ संस्कृति का क्रमिक विकास हुआ है ।

सभ्यता तथा संस्कृति की आदि गाथा में पहले तो मनुष्य सभ्य हुआ फिर उसने सांस्कृतिक गुणों का विकास किया । परन्तु कालान्तर में सभ्यता संस्कृति की अनुगामिनी हो गई । द्विवेदी जी के अनुसार 'सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है । सभ्यता समाज की बाह्य-व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का ।

द्विवेदी जी ने सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है— सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है । संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी[2] । तुलनात्मक दृष्टि से यदि दोनों की मूल प्रकृति का

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड - ६, पृष्ठ १९४

२- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ १९५

विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होता है कि संस्कृति का आधार मुख्यत: आचारों से और सभ्यता का आधार विचारों से है । आचारों से संस्कृति का और विचारों से सभ्यता का निर्माण हुआ । इस दृष्टि से आचारों और विचारों का पारस्परिक जो सम्बन्ध है, सामान्य रूप से संस्कृति और सभ्यता का वही सम्बन्ध है । सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा, असुविधाओं पर रहती है । संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर, सभ्यता नज़दीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर, सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत पर, सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज़ है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून से परे है[१] । जिस प्रकार पुस्तक के पन्ने दो पृष्ठ आपातत: एक दूसरे के विरुद्ध दिखते हुए भी वस्तुत: एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं । संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों सर्वथा असम्बद्ध न होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं ।

२/ संस्कृति के अंग और विशेषतायें—

मानव जीवन की समस्त आवश्यकताओं को संस्कृति के अंग के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है । राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्य, कर्म, दर्शन, नैतिकता, विज्ञान, नाटक, काव्य, जीवन के उपयोगी अन्य उपकरण आदि विभिन्न पर्व संस्कार, मनोरंजन के साधन, क्रीड़ाएं आदि संस्कृति के अंग कहे जाते हैं ।

भारतीय संस्कृति की विशेषता—

संस्कृति को मनुष्य की सर्वोत्तम परिणति स्वीकार करने पर द्विवेदी जी ने स्वयं यह माना है कि भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है ।

१- ह० प्र० ग्रन्थावली -खण्ड ६ सभ्यता और संस्कृति, पृष्ठ १६१

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है । इसका इतिहास बहुत पुराना और महत्वपूर्ण है । न जाने किस   से नाना जातियां आ आकर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं, नया रूप देती रही हैं और समृद्ध करती रही हैं[1]। बाहर से आयी हुई जातियों ने धर्म, विश्वास, आचार-विचार सभी को आत्मसात् करके स्वत्व को प्राप्त किया । भारतीय संस्कृति की प्राचीनता में ही उसकी विशेषता निहित है ।

भारतीय संस्कृति में मानव की तार्किक प्रवृत्ति से अधिक बल आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर दिया गया है । ऋग्वेद के शब्दों में जिस आत्मिक खोज, आध्यात्मिक अस्थिरता और बौद्धिक सन्देहवाद की अभिव्यक्ति है- वह भारतीय संस्कृति की विशेषता का आधार है । द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि 'कर्मफल का सिद्धान्त' भारतवर्ष की अपनी विशेषता है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता ।

भाव तथा देवपरायणता के गुणों से अभिभूत भारतीय संस्कृति में कर्म को धर्म माना गया है । गीता में कर्म मार्ग पर बल देते हुये श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्मा ते संगो स्त ॥

गीता के इस उपदेश से प्रेरणा लेकर भारत का   अपने कर्म में अटूट विश्वास रखता चला आया है । द्विवेदी जी ने लिखा है -अपने

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड- ६ , पृष्ठ २६३

२- ह० प्र०:   ग्रन्था० खण्ड - ६, पृष्ठ २६६

किये हुए कर्म का फल भोगना ही पड़ता है । प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसके किये कर्म का फल दूर नहीं हो सकता । प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के लिये जवाब देह है[1]। कर्मपरायणता की भावना से प्रेरित होकर भारतीय जनमानस अपना सब कुछ अर्पण करने को तत्पर रहते चले आये हैं । यह भारतीय संस्कृति की अद्वितीय विशेषता है ।

भारतीय संस्कृति की विशेषता इसका धर्म प्रधान होना है । भारतीय संस्कृति के समस्त अंग तथा उपांग जैसे - शरीर और मन की शुद्धि, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, शिल्प-निर्माण, सामाजिक व्यवस्थायें, कर्तव्य, अधिकार, संस्कार, शिक्षा आदि धर्म की परिधि में आते हैं । द्विवेदी जी ने स्पष्ट लिखा है -- भारतवर्ष ने अपनी धर्म साधना की उत्तम वस्तुयें दान दी हैं । उसने अहिंसा और मैत्री का सन्देश दिया है, क्षुद्र दुनियावी स्वार्थों की उपेक्षा करके विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उसने जिन बातों को ग्रहण किया है वे भी उसी प्रकार महान और दीर्घ स्थायी रही हैं[2]। धर्म प्रधानता भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न विशेषता है । पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, और देवपरायणता की भावना ने भारतीय संस्कृति को उदारता तथा सहिष्णुता की विशेषताओं से युक्त कर दिया है ।

भारतीय मनीषी कभी भी हठधर्मी नहीं रहा है । अपनी एकीकरण तथा समन्वयी प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति ने इस भूमि पर आने वाली समस्त संस्कृतियों को स्वांगभूत कर लिया तथा स्वयं मन्थर गति से प्रवाहित होती रही है ।

भारतीय संस्कृति की विशिष्टता उसकी सहिष्णुता, उदारता तथा ग्रहणशीलता और सब जन सुखाय-सब जन हिताय में निहित है ।

१- ह० प्र० : ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २१६
२- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २०७

भारतीय संस्कृति -

द्विवेदी जी के मतानुसार — 'भारतीय' संस्कृति शब्द हिन्दुस्तान में नया है और अन्य अनेक बातों की तरह इसका इस अर्थ में प्रयोग करना भी हमने विदेशियों से सीखा है। पुराना 'संस्कृति' शब्द इस नये अर्थ में पहले नहीं प्रयुक्त होता था[1]। द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है -- भारतीय संस्कृति के प्राण में स्पन्द है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को बाधा न पहुंचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के समेत जीवित है। भारतीय संस्कृति ने सदा सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है[2]।

भारतीय संस्कृति को द्विवेदी जी ने भौतिक और पारमार्थिक विकास के सन्दर्भ में ही देखा है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, औदार्य और मुख्य बात मानव जीवन के प्रति विरक्ति नहीं जीवन के प्रति   का अनुभव है। द्विवेदी जी कहते हैं -- मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूं, तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और आगत कुछ अविरोधी धर्म की ही बात करता हूं। अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिये इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है।... वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है उतने ही अंश में वह सार्थक और महान है। वही भारतीय संस्कृति है[3]।

भारतीय संस्कृति के विकास को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ १९८
२- वही , पृष्ठ १९९
३- वही , पृष्ठ २०१ से २०२ तक

कहते हैं -- भारतीय संस्कृति पहाड़ पर जमे हुए अनेक बालुका स्तरों की भांति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्राविड़ जाति बस रही थी। इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी। आर्य द्राविड़ और सदा नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ। बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्द्ध-सभ्य, अल्प सभ्य जातियों की संस्कृतियां धर्ममत, आचार, परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गये। भारत - ज्योतिष जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबरदस्त अंग है, बहुत कुछ यवनों (ग्रीकों), बर्बरों (बैबिलोनियनों), असुरों (असीरियनों) के विश्वास से प्रभावित है[1]। भारतीय संस्कृति ने सदा सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है। वस्तुत: यह धर्मों का पुरातन विरोध ही सारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक हुआ है[2]।

भारतीय संस्कृति का विकास--

आचार्य द्विवेदी के साहित्य में अभिव्यक्त सांस्कृतिक विचारों और दृष्टिकोणों का सम्यक् अध्ययन और निरीक्षण करने के उपरान्त हमें भारतीय संस्कृति के जिस विकास का, रूप का, गुण और लाघव का दर्शन होता है उसके सम्पूर्ण रूप को उजागर करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलता है कि सम्पूर्ण मानव जाति और उसके क्रिया-कलापों के कुछ मौलिक आधारभूत लक्षण हैं, जो हमारे वर्तमान से अधिक महत्वपूर्ण और प्राथमिक हैं। मूलत: ये लक्षण संस्कृति को रूप, गुण, विशिष्टता और परम्पराएं प्रदान करते हैं।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ११७-११८
२- वही , पृष्ठ ११९

सृष्टि में मानव संस्कृति का विकास :

पुरातत्त्वविद् और इतिहासकार अभी तक यह निश्चित नहीं कर पाये हैं कि मानव संस्कृति, सभ्यता का प्रारम्भ कहाँ से हुआ। द्विवेदी जी ने इस विषय में अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि न जाने किस अनादि काल के एक अज्ञात मुहूर्त में यह पृथ्वी नामक ग्रह पिण्ड सूर्यमण्डल से टूटकर उसके चारों ओर चक्कर काटने लगा था। मुझे उस समय का चित्र कल्पना के नेत्रों से देखने में बड़ा आनन्द आता है। उस सद्यस्त्रुटित धरित्री-पिण्ड में ज्वलन्त गैस भरे हुए थे। कोई नहीं जानता कि इन असंख्य अग्नि गर्भ कणों में से किसमें या किनमें जीवतत्त्व का अंकुर वर्तमान था। शायद वह सर्वत्र परिव्याप्त था। इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठण्डी होती रही। लाखों वर्ष तक उस पर तरल तप्त धातुओं की उच्छ्वसित वर्षा होती रही, लाखों वर्ष तक उसके भीतर और बाहर प्रलयकाण्ड मचा रहा। पृथ्वी अन्यान्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार नाचती रही, जिस प्रकार खिलाड़ी के इशारे पर सरकस के घोड़े नाचते रहते हैं। जीव तत्त्व स्थिर-अविक्षुब्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहा। अवसर आने पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया- नगण्य तृणांकुर के रूप में। तब से आज तक सम्पूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगाकर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सकी। सृष्टि के   में यह एकदम अघटित घटना थी।[१]

वैसे तो विश्व में अनेक आश्चर्य हैं किन्तु मानव शिशु से बढ़कर कोई दूसरा आश्चर्य नहीं है। संस्कृति का सारा विकास मानव शिशु से प्रारम्भ होता है। भारत में मानव के अस्तित्व के चिह्न प्रागैतिहासिक काल में भी मिलते हैं। पंजाब में सिन्धु नदी की घाटी से लगभग ४ लाख से दो लाख वर्ष ईसा पूर्व प्रारम्भिक   काल के पत्थर के उपकरण

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड - ६, पृष्ठ २०२

प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत से भी बहुत से पाषाण के टुकड़े मिले हैं जो आदि मानव के औजार थे। पूर्व पाषाणकाल तथा उत्तर पाषाण काल की प्रागैतिहासिक संस्कृति के अवशेष देश भर में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, परन्तु विकसित संस्कृति के अवशेष सिन्धु की घाटी में हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो नामक स्थानों में ही प्रचुर रूप से प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास क्रम के प्रथम चरण बहुत आश्चर्यजनक हैं। भारत में आज भी कृषकों की संख्या अधिक है एवं यह ग्राम प्रधान देश है। आज भी कुछ कबीलाई जन-समुदाय शेष हैं। ये दोनों कृषक और कबीलाई जन-समुदाय युगों से एक दूसरे को प्रभावित करते आ रहे हैं। अन्नोत्पादन करने के कारण कृषक वर्ग की आन्तरिक वृद्धि हुई है और अनिश्चितता के कारण कबीलाई जीवन का विघटन हुआ, जिससे ग्रामों की संख्या में वृद्धि हुई। इस दृष्टि से ग्रामीण सभ्यता के विकास को तो समझा जा सकता है परन्तु नगर जीवन के विकास और नागरिक सभ्यता की गुत्थी सुलझाना थोड़ा विषम है। जब हम प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक विशेषता के रूप में नागरीय सभ्यता और नगर जीवन की के विषय में विचार करते हैं तो हमें प्रमाणों के आधार पर यह आश्चर्यजनक होती है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति की पहली सीमारेखा नगर सभ्यता से प्रारम्भ हुई है।

भारत में अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण नगरों का उदय सर्वप्रथम लगभग एक हजार वर्ष ईसा पूर्व हुआ। इनका विकास आर्यों के कबीलों ने किया था। ये कबीले कांस्ययुगीन जन जाति के रूप में उत्तर पश्चिम की ओर से आये थे। यह अनुमान मुख्यतः उन प्राचीनतम संस्कृत ग्रन्थों, स्तुति गीतों तथा कथाओं से लगाया गया था जो इन काल्पनिक कथाओं तथा

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २६०

किंवदंतियों के स्तर की थी । परन्तु सिन्धु सभ्यता की अपूर्व खोज ने प्राचीन साहित्य के उल्लेखों पर आधारित अनुमान को सर्वथा खण्डित कर दिया । उन्नत नागरीय नागरिक जीवन के अवशेष-भग्न,इमारतें, सोने-चांदी और तांबे के आभूषण ऐसी मुद्रायें (सील) मिलीं जिनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है । उनमें साधुओं की उत्कीर्ण मूर्तियां भी मिलीं । ये सारी चीजें ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दक में उपलब्ध सुमेरियन वस्तुओं से बहुत मिलती-जुलती हैं । जब सरजान मार्शल ने अनुसन्धान के परिणामस्वरूप प्राप्त वस्तुओं का लेखा-जोखा प्रकाशित किया तो पण्डितों की दुनिया आश्चर्य से स्तब्ध रह गई, जो ही यहां प्रकृत विषय ये है कि आर्यों के आने के पहले इस देश में अत्यन्त समृद्ध द्रविड़ सभ्यता थी[१] ।

किसी भी सभ्यता को श्रेष्ठतर कहलाने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जबकि वह एक लम्बे समय तक आने वाले समय को अपने विचारों,उप-लब्धियों, प्राप्तियों से प्रभावित करती है । सिन्धु सभ्यता में यह सभी कुछ था ।

भारतीय संस्कृति का क्रम-बद्ध इतिहास ऋग्वैदिक अथवा पूर्व वैदिक काल से मिलना प्रारम्भ होता है । हमारी सभ्यता के प्रधान उत्स वेद हैं । यद्यपि आज के भारतवर्ष को बनाने में ऐसी अनेक सांस्कृतिक धारायें काम करती रही हैं जिनका वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । तथापि मुख्य धारा वैदिक ही रही है जब आर्य पंजाब में बसे थे तब आर्यों का वैदिक साहित्य इस देश के सभी जातियों पर जबर्दस्त प्रभाव विस्तार कर सका[२] । ये आर्य लोग किसी ओर से भारत की मध्य भूमि की ओर आये यह   बात है..... ऐसा जान पड़ता है कि मध्य एशिया के किसी स्थान से नाना दिशाओं में फैले थे । इनका एक हिस्सा ईरान होकर भारत

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६ , पृष्ठ २६१

२- वही ,, , पृष्ठ १२७

आया था दूसरा शाल्डिया एशिया माइनर की ओर चला गया था ।... यों ही इन आर्यों का प्रभाव भारतवर्ष की विभिन्न जातियों पर बहुत अधिक पड़ा। हमारा उच्चतर दर्शन, धर्म तत्व और अध्यात्म इन आर्यों के साहित्य से निरन्तर प्रेरणा पाता रहा है ।[1]

प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है । ऋग्वेद स्वयं आर्य जाति की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति की प्रथम ग्रन्थ रचना प्रतीत होती है ।

जब हम आर्यों की चर्चा करते हैं या तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि तुलना में आर्य ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी की उन महा नागर संस्कृतियों से श्रेष्ठ नहीं थे जिन पर उन्होंने हमला किया था और प्राय: नष्ट कर डाला था । आर्यों के ऐसे कोई विशिष्ट उपकरण नहीं मिले हैं जिनके आधार पर आर्य संस्कृति का पुरातात्विक विवेचन किया जा सके । वस्तुत: जिस बात के कारण इन्हें विश्व इतिहास में इतना महत्व मिला वह थी इनकी बेजोड़ गतिशीलता, जो इन्हें मवेशियों के चल खाद्य भण्डार के रूप में, युद्ध में अश्व रथ के रूप में और भारी माल ढोने के लिये बैलगाड़ी के रूप में प्राप्त हुयी थी ।

"आर्यों के पास लोहे के अस्त्र थे, जिससे वे विजयी हुए, एक दूसरी बात भी उनके विजय का कारण रही होगी - घोड़े ।[2]"

आर्य लोग पंजाब पूर्व की ओर बढ़ रहे थे उन्हें आर्येतर जातियों से संघर्ष भी करना पड़ा था । आर्यों और द्रविड़ों की सभ्यताओं का संघर्ष और बाद में समन्वय एक चिन्तनीय ऐतिहासिक तथ्य है ।[3]"

१- ह० प्र० ग्रन्थावली - पृष्ठ २६२

२- वही . . - खण्ड ६, पृष्ठ २६०

३- वही - ,, , पृष्ठ २६४

ऋग्वेदकालीन संस्कृति के विकास-क्रम में जिस नवीन युग का प्रारम्भ हुआ उसे उत्तर वैदिक काल कहा जाता है । मूलरूप से इन युगों के बीच कोई निश्चित सीमा रेखा खींचना न तो सम्भव है और न ही उचित । पुराना बिलकुल समाप्त नहीं होता और नया बिलकुल नया नहीं होता । हां, एक संक्रमण काल अवश्य होता है जिसमें दोनों धाराएं मिली-जुली रहती हैं । ऋग्वेद काल के उपरान्त आने वाले नवीन युग की दो बातें विशेष महत्वपूर्ण थीं पहली तो यह कि उत्तरवैदिक काल की संस्कृति, जो ऋग्वेदकालीन संस्कृति के बाद विकसित हुई, अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत एवं समृद्ध थी तथा दूसरी बात यह थी कि पूर्व संस्कृति की अपेक्षा सिद्धान्त और व्यवहार में अधिक परिपक्वता आ गई थी । उत्तरवैदिक काल की सभ्यता और संस्कृति का काल निर्णय नहीं किया जा सकता है । जिस समय ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से कुछ भिन्नता परिलक्षित होने लगती है वह काल १००० ईसा पूर्व से ५०० ईसा पूर्व तक माना जाता है । उत्तरवैदिक काल में अन्य तीन वेदों की तथा ब्राह्मणों, आरण्यकों और प्रमुख उपनिषदों की रचना हुई ।

ऋग्वेद के प्रथम ६ मण्डलों के उपरान्त दसवें मण्डल की रचना हुई, यह भाषा, शैली और विषय में भिन्न है । लगभग इसी समय में ऋग्वेद के मन्त्रों को चुनकर दूसरे वेद का संकलन हुआ, जिसे सामवेद कहा गया । इसमें मौलिक मंत्र ७८ हैं । ऋग्वेद के ही कुछ मन्त्रों को चुनकर तीसरे वेद का संकलन हुआ - वह यजुर्वेद था । यज्ञों के समय ब्राह्मण यजुर्वेद का पाठ करते थे `यजुर्वेद अध्वर्युवेद है`। इसके दो संस्करण हैं कृष्ण और शुक्ल । कृष्ण की तीन पूरी और एक अधूरी संहिता है । शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता है । इसी समय की रचना हुई-यह चौथा वेद है । कुछ विद्वानों का मत है कि में आर्यों पर अनार्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । `ऐसा जान पड़ता है कि में कुछ जादू-टोने आदि आडंबर अवश्य हैं जिनके कारण इस वेद पर कुछ से थोड़ा उपेक्षा का भाव रह गया है ।`[1]

1- हि० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २१६

वैदिक संहिताओं के बाद ब्राह्मणों की रचना हुई। इनमें वैदिक कर्मकाण्ड का सूक्ष्मतर विवेचन किया गया है। इसके उपरान्त ब्राह्मणों के उपसंहार प्रतीत होने वाले आरण्यकों की रचना हुई। इस काल के विशुद्ध साहित्य में उपनिषदों का विशेष महत्त्व है। इनमें दर्शन की व्याख्या की गई है। उत्तर वैदिक काल की संस्कृति का अन्य स्रोत वेदांग है। ये क्रमानुसार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष कहलाते हैं। यद्यपि इन सभी ग्रन्थों का उद्देश्य संस्कृति का बखान करना नहीं था तथापि उनमें प्रतिपाद्य विषयों से तत्कालीन संस्कृति का विकास निश्चित रूप में निर्धारित किया जा सकता है।

उत्तर वैदिक काल के साहित्य से भारतीय जन-जीवन और संस्कृति के विषय में विशेष सूचनायें प्राप्त होती हैं। उपनिषदों में वैदिक तत्त्व चिन्तन का चरम विकास मिलता है। ये बाद के अनेक दर्शनों के स्रोत बने। इनका आदर्श भारतीय जन-जीवन को आज भी अनुप्राणित करता है। इस युग में आर्य संस्कृति का और अधिक प्रसार होता है। पहले इसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था। फिर काशी, कोसल, विदेह इसके केन्द्र बन गये। आर्य और आर्येतर संस्कृति का समन्वय और सामन्जस्य इस काल की प्रधान विशेषताओं में से है। इसी काल में उपनिषदों के दर्शन में धर्म का आता है। यह मुनियों और श्रमणों की संस्कृति से ग्रहण किया गया था। वैदिक धर्म प्रवृत्ति प्रधान था पर जब वैदिक और अवैदिक तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ तो इस काल में निवृत्ति और सांसारिक बन्धन से मुक्ति का आदर्श भी स्वीकार किया जाने लगा। ये वैदिक धारा और भारतीय संस्कृति की एक प्रधान विशेषता बनी। वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्श और व्यवहार की प्रतिष्ठा भी इसी सम्मिश्रण का परिणाम है। इस काल में भारतीय समाज को जिन विचारकों और मनीषियों ने रूप दिया उनका लक्ष्य सर्वभूत-हित या प्राणिमात्र की चिन्ता थी, उस लक्ष्य के कार्य और बाधाओं का निर्णय करने का कार्य राग-द्वेष आदि से अपरिचालित तथा उक्त लक्ष्य प्राप्त करने का

निश्चय करने वाली बुद्धि का है और इस बुद्धि को सहायक है चौदह या अठारह विद्याएं अर्थात् संसार के समस्त विज्ञान, दर्शन, इतिहास, पुराण, अन्यान्य शास्त्र ।[१]

राजनीतिक क्षेत्र में भी इस युग में उन्नति हुई, बहुत से राज्य बने । राजतन्त्र तथा गणतन्त्र जैसी शासन प्रणालियां विकसित हुई तथा ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के एकछत्र साम्राज्य के रूप में भारत की राजनीतिक एकता की कल्पना हुई । इस काल में दो बातें महत्वपूर्ण थीं- पहली तो यह उत्तर वैदिक काल की संस्कृति पूर्वकालीन संस्कृति की अपेक्षा अधिक समृद्ध तथा विस्तृत थी । दूसरी यह कि अब सिद्धान्त और व्यवहार में अधिक परिपक्वता आ गई थी । इस काल में बहुदेववादिता तो थी ही, परन्तु रूप-स्वरूप एवं मान्यता में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया था । कुछ सामयिक विरोध होते हुए भी ब्राह्मण का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि वह पृथ्वी पर देवता-स्वरूप बन बैठा था । यह कर्मकाण्डी मुद्रा का एक पक्ष था । दूसरे पक्ष में दार्शनिक तथा बौद्धिक चिन्तन से क्रान्तिकारी विचारों के बीज भी दिये थे इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही लिप्त नहीं थे अपितु उनका ध्यान ब्रह्म-विद्या तथा तत्व-चिन्तन की ओर भी गया था । इस समय जिन मतों का जन्म अथवा प्रतिपादन हुआ वे वर्तमान चिन्तन की भी दिशा निर्धारित करते हैं ।

उत्तर वैदिक काल के अन्त में सूत्रों का काल प्रारम्भ होता है । सूत्र ग्रन्थों में धार्मिक, , साहित्य सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों को क्रमबद्ध रूप से कम से कम शब्दों में पिरोया गया जिससे स्मरण में सरलता हो । इसका एक कारण यह भी था कि उत्तर वैदिक युग में , नियमों तथा धर्म की इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि स्वयं पुरोहितों

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ १२४-२५

द्वारा उनको समझना तथा सम्पादन करना कठिन हो गया और यह आवश्यक
समझा गया कि इन्हीं तौर तरीकों को क्रमबद्ध करके लिखित रूप दे दिया जाय।
फलतः संक्षिप्त नियमों के रूप में पिरोये गये ग्रन्थ सूत्र कहलाये। इन ग्रन्थों
के अनुशीलन से भारतीय संस्कृति के विकास क्रम के विषय में निश्चित संकेत
मिलते हैं। इस काल में आर्य संस्कृति का भारत के एक विस्तृत भू-भाग में
प्रसार हो चुका था। अनेक आर्येतर जातियां भी आर्य प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत
आ रही थीं। आर्य संस्कृति के क्षेत्र को आर्यावर्त की संज्ञा दे दी गयी थी
अब व्यवस्था की आवश्यकता थी। सूत्रों में हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में
व्यवस्था तथा भेद में अभेद स्थापित करने का प्रयास पाते हैं। श्रौत सूत्रों में
यज्ञ सम्बन्धी धार्मिक विधि विधानों को व्यवस्थित किया गया। गृह्यसूत्रों
द्वारा पारिवारिक जीवन को किया गया। धर्मसूत्रों में वर्ण-व्यवस्था
एवं परम्परा प्राप्त आचार तथा व्यवहार के प्रतिपादन द्वारा सामाजिक जीवन
को एक सांचे में ढाला गया।

यह एक सामान्य मान्यता है कि हिन्दू समाज को व्यवस्थित
रूप सूत्रों के काल में मिला वही व्यवस्था मूलतः आज तक विद्यमान है। सूत्रों
की परम्परा कई शताब्दियों तक चलती रही। , आश्वलायन
आदि कुछ प्रधान श्रौत सूत्रों तथा गृह्यसूत्रों का काल ८०० ईसा पूर्व से ५००
ईसा पूर्व के बीच में माना गया है। गौतम बौधायन, वशिष्ठ,
के धर्मसूत्र प्रायः छठी या चौथी शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। पांचवी
शताब्दी ईसा पूर्व में प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' नामक
सूत्र ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में प्रादेशिक भाषाओं के ऊपर संस्कृत
को भाषा के रूप में रखकर देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़
आधार प्रदान किया गया। यही ग्रन्थ सदैव के लिये संस्कृत भाषा का
बन गया। गौतम का धर्मसूत्र उत्तर भारत में, बौधायन धर्म सूत्र
दक्षिण भारत में, तत्पश्चात् का धर्मसूत्र आन्ध्रप्रदेश में रचा गया
प्रतीत होता है। —— तथा भाषा के भेदों के कारण इन धर्म सूत्रों में
साधारण सा भेद है परन्तु सिद्धान्त की समानता है। विभिन्न धर्म सूत्रों

की तुलना से परिलक्षित होता है कि सम्पूर्ण देश में एक ही सभ्यता थी, एक ही तरह के धार्मिक, सामाजिक सिद्धान्त, व्यवहार प्रचलित थे और राजनीतिक संगठन भी एक ही जैसा था । प्रतीत होता है कि सूत्रों में ग्रामीण जीवन का विवरण है नगर जीवन का नहीं । आपस्तम्ब में उल्लेख है 'इसे चाहिए नगरों में न जाय ।'[1] बौधायन में भी मिलता है कि 'जो धूल-धक्कड़ से भरे नगर में रहता है उसे मोक्ष पाना असम्भव है ।' सूत्रों से यह भी संकेत मिलता है कि किन्हीं विचारों में जीवन का दृष्टिकोण सीमित हो गया था । सूत्र ऐसी जाति के दर्शन, धर्म, समाज, अर्थ और राजनीति को एक सूत्र में पिरोते हैं जिसने अब तक एक लम्बी दूरी तय कर ली थी और आने वाले समय का सामना करने के लिये कुछ देर ठहर गयी थी ।

विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उतार चढ़ाव आना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है परन्तु मुख्य बात यह होती है कि तत्कालीन मानव-मस्तिष्क या सभ्यता के निर्माता अपने दोषों का विवेचन कर पाते हैं अथवा नहीं ।

युग में हमें संस्कृति के ऐसे ही कतिपय प्रसंग प्राप्त होते हैं । युग की ओर द्विवेदी जी ने अपरोक्ष रूप से संकेत किया है । कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपराध देखकर भी जिस प्रकार की चुप्पी साधी थी उसे द्विवेदी जी ने भविष्य द्वारा कभी न क्षमा किया जाने वाली बात कहा है । उन्हीं के शब्दों में - '[illegible] भविष्य कभी क्षमा नहीं करेगा उसकी सीमा भी तो कोई नहीं है । १००० वर्ष बीत गये और अब तक पितामह भीष्म को क्षमा नहीं किया गया - भविष्य विकट असहिष्णु है ।'[2]

१- २। ३। ६

२- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २७०

इतिहास का मूल यही है कि वह इंगित करे कि जिस व्यक्ति ने अपराध किया है उसके परिणाम का उसे ज्ञान था या नहीं । यदि ज्ञान होते हुए भी उसने चेतावनी नहीं दी तो वह अक्षम्य अपराध का भागी होगा। 'भीष्म जानते बहुत थे तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे ..... इतिहास का रथ वह हांकता है जो सोचता है और सोचे को करता है ।'[1]

युग इस बात से अपरिचित था कि आगे कौन सा युग आयेगा परन्तु अब सभ्यता और संस्कृति के ठेकेदारों को यह आभास होने लगा था कि क्रान्ति अब दूर नहीं है । महाभारत में स्पष्ट संकेत है— 'सच्चाई, अपने ऊपर काबू रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना इनसे प्राप्त होती है । सच्चे आनन्द के लिये कष्ट उठाना जरूरी है । रेशम का कीड़ा अपने धन के कारण ही मरता है । असन्तोष उन्नति के लिये है ।

सम्भवत: इसी विचार से प्रेरणा लेकर द्विवेदी जी ने कहा है - 'अच्छी बात करने वालों की कमी इस देश में कभी नहीं रही है । आज भी बहुत ईमानदारी और सच्चाई के साथ अच्छी बात करने वाले आदमी इस देश में कम नहीं हैं । उन्होंने प्रेम-भ्रातृ भाव का मंत्र बताया है । अनादि काल से महापुरुषों ने भलाई का सन्देश सुनाया है । कहते हैं, व्यास देव ने अपने अन्तिम जीवन में निराश होकर कहा था कि 'मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूं कि धर्म ही प्रधान वस्तु है उसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है पर मेरी कोई सुन नहीं रहा है ।'[2]

भारतवर्ष ने एशिया और यूरोप के देशों को अपनी कर्मसाधना की उत्तम वस्तुयें दान दी है । उसने अहिंसा मैत्री का संदेश दिया है, बुद्ध

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २५१

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३०

दुनियावी स्वार्थों की उपेक्षा करके विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उसके जिन बातों को ग्रहण किया है वे भी उसी प्रकार महान और दीर्घ स्थायी रही है[१]। पुनश्च उन्होंने लिखा है - 'भारतवर्ष में सामान्य मानवीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने की जो महती साधना की, उसके प्रत्येक पहलू का अध्ययन और प्रकाशन हमारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिए ।[२]

धार्मिक उथल-पुथल का युग :- (संस्कृति - प्रतिसंस्कृति का द्वन्द्व)

छठी शती ईसा पूर्व में भारत के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जगत में बहुत कुछ ऐसा ही हो रहा था । द्विवेदी जी के विचारों से संकेत मिलता है कि इस समय के विचारक सामाजिक   आदि वर्तमान को भविष्य की आशंकाओं से परिचित कराने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे । देश में संन्यासियों की संख्या बढ़ती जा रही थी । समाज में लोगों के दो स्पष्ट वर्ग उभर रहे थे । एक तो वे जो वैदिक धर्म, कर्मकाण्ड, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देने तथा देवी-देवताओं को पूजने में ही सन्तुष्टि का अनुभव करते थे दूसरे वे जो इस प्रकार की रीति नीति से केवल असन्तुष्ट ही नहीं वरन् उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी अभिव्यक्त कर रहे थे । '   को   ने चिन्तन की भावना को यदि कुण्ठित नहीं बनाया तो उसके लिये अवकाश की कमी अवश्य कर दी । सामाजिक   की वृद्धि के साथ-साथ चिन्तन की स्थिति कमजोर होती गई जिसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी ।[३] जैन और बौद्ध धर्म इसी प्रतिक्रिया के परिणाम थे ।

१- ह० प्र०   ा, खण्ड ६, पृष्ठ २०७-२०८

२- वही   , खण्ड ६, पृष्ठ २०८

३- वही   , खण्ड ६, पृष्ठ ११०

आत्मजयी भगवान महावीर स्वामी के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा है - `जिन तप: पूत महात्माओं पर भारतवर्ष उचित गर्व कर सकता है, जिनके महान् उपदेश हजारों वर्ष की कालावधि को चीरकर आज भी जीवन्त प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं उनमें भगवान महावीर अग्रगण्य हैं। उनके पुण्य स्मरण से हम निश्चित रूप से गौरवान्वित होते हैं।'[1] महावीर स्वामी जैन धर्म के तीर्थंकरों की परम्परा में अन्तिम थे जिसका अर्थ यह हुआ कि `आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही उन महान धर्म नेताओं द्वारा धर्म-मार्ग निर्णीत हो चुका था। भगवान महावीर का निर्वाण ईसवी सन् के आरम्भ होने से पांच सौ सत्ताइस वर्ष पहले हो गया।'[2] भगवान महावीर स्वामी की साधना एवं तप अत्यन्त कठोर थे। वस्तुत: अत्यन्त कठोर तप जैन मुनियों की विशेषता थी। जैन शास्त्रों में महावीर के कठोर तप का बहुत वर्णन मिलता है, वे अहिंसा सिद्धान्त के प्रचारक थे। यह अहिंसा विचार के क्षेत्र में भी उतनी ही ी शक्ति है जितनी आचार के क्षेत्र में। भगवान महावीर के अनुसार जीव मात्र के साथ संयमपूर्ण व्यवहार करना तथा परस्पर व्यवहार में समभाव रखना ही जैनोमय शुद्ध अहिंसा है यही प्राणिमात्र का कल्याण कर सकती है।.. महावीर स्वामी ने यह देकर कहा कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ध्रुव और शाश्वत धर्म है जिसने अपने आप को जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया।' सत्य और अहिंसा पर उनकी दृढ़ आस्था थी। कभी-कभी उन्हें केवल जैनमत के उस रूप को जो आज जीवित है, प्रभावित और प्रेरित करने वाला मानकर उनकी देन को सीमित कर दिया जाता है। महावीर इस देश के उन गिने चुने महात्माओं में हैं जिन्होंने सारे देश की मनीषा को नया मोड़ दिया है। उनका चरित्र, शील, तप और विवेकपूर्ण विचार सभी अभिनन्दनीय है।'[3]

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २५७

२- वही, खण्ड ६, पृष्ठ २५२-५३

३- वही, खण्ड ६, पृष्ठ २५५

जैन धर्म में श्रमण संस्कृति के अवैदिक तत्व ही प्रधान थे। यद्यपि उनमें समन्वय भी देखने को मिलता है।

बौद्ध-धर्म → जैन धर्म की भांति बौद्ध धर्म का उदय भी उपचार शास्त्र के रूप में हुआ जो ब्राह्मण धर्म विरोधी प्रतिक्रिया का परिणाम था। जिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोक धर्म में घुल मिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर जटिल होता जा रहा था।"[1] "हम जब किसी प्रकार की भय या आशंका से विचलित होते हैं तो उसका मतलब होता है कि हमने भगवान का भरोसा छोड़ दिया है।"[2]

छठी शती में भय और आशंका जिस रूप में व्याप्त थी, उसी के परिणामस्वरूप महात्मा बुद्ध ने नवीन धर्म का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म को द्विवेदी जी ने मध्यम मार्ग कहा है "मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का रास्ता। उन्होंने स्वयं इसे मध्यमा, प्रतिपदा या मध्यमा प्रतिपत्ति कहा था। यद्यपि बुद्ध भगवान के बताये रास्ते को मध्यम मार्ग कहना रूढ़ हो गया है तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार का विचार किसी और ने कभी रखा ही नहीं।"[3]

महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र को द्विवेदी जी ने बड़ी भावुकी और ऐतिहासिक तथ्यों से भरपूर विवरण के रूप में प्रस्तुत किया है। "आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले बुद्धदेव ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था। उन्होंने काया-क्लेश वाली और भोगमय जीवन, दोनों के त्याग का उपदेश दिया और संयमित जीवन अहिंसा, मैत्री भावना, शीलयुक्त आचरण

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ३, पृष्ठ ४१

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ४१९

३- वही ; खण्ड ६ , पृष्ठ २४६

पर बल दिया । वे तृष्णा को सब दुःखों का हेतु बताते थे । उनका उपदेश आगे चलकर बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ और कम से कम आधी दुनिया उसके प्रभाव में आ गयी ।[१]

सारांश यह है कि में भावुक चिन्तनशील कुमार सिद्धार्थ के मन में सांसारिक और भौतिक व्याधियों से छुटकारा पाने के प्रश्न गूंजते थे उन्होंने विलासमय जीवन को छोड़कर, पत्नी एवं पुत्र को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की । कठोर तपस्या की । परन्तु उन्हें यह आभास हुआ कि अथक परिश्रम और घोर तपस्या ज्ञान-प्राप्ति में सहायक न होगी । उनके शिष्यों ने इनके विचारों से असहमत होकर उनकी घोर भर्त्सना की । वे गया के निकट वट-वृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठ गये और इस बैठक के आठवें दिन वैसाख-पूर्णिमा को उन्हें ज्ञान प्राप्ति हुई । उनका जन्म एवं बोधि-लाभ दोनों ही वैसाख-पूर्णिमा को हुए थे । ज्ञान-प्राप्ति के बाद उन्होंने धर्म चक्र प्रवर्तन किया और जीवन के अन्त काल तक `उन्होंने दुःख के स्वरूप को, उसके कारणों को, उसके निरोध के यथार्थ रूप को और उसके निरोध तक पहुंचाने वाले साधना-मार्ग को भी । तक वह इस मुक्ति-मार्ग का उपदेश घूम-घूम कर देते रहे ।[२] आसन, पान, शासन, शयन, मलमूत्र के त्याग के समय को छोड़कर, निद्रा एवं विश्रान्ति के समय के अतिरिक्त तथा गत की धर्म देशना सदैव अखण्ड बनी रही ।

बुद्ध देव ने जो मार्ग बताया वह अन्तिम विश्लेषण पर मैत्री और तितिक्षा का धर्म है । मनुष्य जितनी दूर तक ऊपर उठ सकता है, यह धर्म उसे उतनी ऊंचाई पर ले जाता है । बुद्ध के व्यक्तित्व और उपदिष्ट मार्ग

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २६८

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २६१

दोनों में एक ऐसा अद्भुत आकर्षण था, कि जो उनके सम्पर्क में आया वह उन्हीं का हो रहा। उनके परिनिर्वाण के कुछ ही सौ वर्षों के भीतर यह प्रेम और मैत्री का धर्म तत्कालीन समस्त ज्ञात जगत में फैल गया। जिन बर्बर जातियों के मन में क्रूरता और प्रतिहिंसा के अतिरिक्त और कोई बड़ी बात उठ ही नहीं सकती थी, वे भी इस प्रेम और मैत्री के धर्म के सामने मन्त्र-मुग्ध होकर नतशीश हुईं ... आज से ढाई हजार वर्ष पहले इसने सिद्ध कर दिया कि मनुष्य को विधाता ने प्रेम और मैत्री का सन्देश वाहक बनाया है[1]।

भागवत धर्म—

वैदिक कर्मकाण्ड या वैदिक अभिवाद्यवाद के विरोध में वैदिक धर्म सुधार की प्रवृत्ति से तीन धाराएं   हुईं — (१) जैन धर्म, (२) बौद्ध धर्म तथा (३) भागवत धर्म।

इनमें से प्रथम दो तो अवैदिक धारा परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है। तीसरी भागवत धर्म की धारा थी, जो स्थूल जटिल वैदिक कर्मकाण्ड को आलोकृत करके वैदिक परम्परा का पालन करती हुयी उसमें यथोचित सुधार करना चाहती थी।

भागवत धर्म के मूल प्रवर्तक वैदिक ऋषि नारायण थे। पूर्व में इसे नारायणी धर्म भी कहा जाता रहा है। कालान्तर में वासुदेव कृष्ण इस धर्म के मूल प्रवर्तक के रूप में   हुए। भारतवर्ष के धार्मिक और   क्षेत्रों का ऐतिहासिक वर्णन करते हुए कहते हैं प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक न जाने कितनी   प्रसूत हुई हैं .... सब सदा के लिये प्रमुख स्थान अधिकार नहीं कर सकीं, पर सबने विशाल भारत धर्म के निर्माण में कुछ न कुछ योगदान किया है। वैदिक, बौद्ध, जैन,   ,   , शाक्त, शैव, वैष्णव आदि अनेक   किसी समय देश भर में या देश के

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २६१-६२

किसी विशेष भाग में अत्यन्त प्रबल थी ।........ कई साधनाएं नाम और रूप बदलकर अब तक चीती चली आ रही हैं[१] ।

भागवत धर्म में विष्णु भगवान को साधना के केन्द्र में स्थापित किया गया और इसे वैष्णव धर्म की भी संज्ञा दी जाती है । साधना के रूप में वैदिक काल के कठिन कर्मकाण्ड के विरुद्ध भागवत धर्म या वैष्णव धर्म में सरल,सहज, भक्ति भावना को साधना का प्रमुख मार्ग माना गया । द्विवेदी जी ने भक्ति के लिये जो नितान्त आवश्यक बात बतायी है वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके । उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी ।.. .. मध्ययुग के सबसे अधिक प्रभावशाली 'भागवत' में अवतारों की संख्या २४ तक की गयी है[२] । इस समय तक यह विश्वास किया जाने लगा था कि ईश्वर के अवतार का मुख्य कारण अपने भक्तों पर अनुग्रह करना ही है । द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है - 'भागवत् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ऐकान्तिक भक्ति ही है । कैवल्य (मोक्ष) या अपुनर्भव को भी भक्त लोग इसके सामने तुच्छ समझते हैं[३] ।

पाञ्चरात्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता, नारदभक्ति सूत्र और भक्ति सूत्र इस भागवत धर्म के उपजीव्य ग्रन्थ माने जाते हैं । इसी परम्परा में आगे चलकर (एक ईस्वी से छठी शती तक) में अनेक पुराण ग्रन्थों (यथा - विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण, भागवतपुराण) आदि की रचनाएं हुईं । जिनमें विशद रूप से भागवत धर्म या वैष्णव धर्म की की गई है ।

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २८५

२- वही , खण्ड ३, पृष्ठ ३०८

३- वही ., खण्ड ३, पृष्ठ ३०८

धार्मिक उथल पुथल के इस युग में आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तन के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। अनेक राज्यों में कुछ गणतन्त्र थे तो कुछ राजतन्त्र। इनमें संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया था। श्रमणों और तपस्वियों के अनेक संघ थे। जिनके धार्मिक आदर्श अवैदिक थे। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में वैदिक और अवैदिक सांस्कृतिक धाराओं का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कालान्तर में बौद्ध धर्म एशिया के अन्य देशों में भी फैल गया और भारत को अन्य देशों का धर्मगुरु एवं सांस्कृतिक आदर्शों का श्रेय मिला। 'धन्य है भारत भूमि, धन्य है ये प्रेम और मैत्री का पावन मंत्र। युद्ध मारकाट और क्रूर हिंसा उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है।'[1]

साम्राज्य निर्माण का युग :-

बौद्ध धर्म का प्रभाव और विस्तार इतना व्यापक था कि इस पूरे युग को प्राय: बौद्ध काल भी कहा जाता है। इसके पश्चात् राजनीतिक शक्तियों के विकास और संघर्ष का युग आता है, जिसके फलस्वरूप भारत का एकीकरण होता है। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के द्वितीयार्द्ध का समस्त विश्व के   में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी काल में यूनान में सिकन्दर का   स्थापित होता है जिसने ईरान की राजनीतिक शक्ति को कुचल कर भारत में भी प्रवेश किया। राजनैतिक घटनाचक्र के सन्दर्भ में न जाकर द्विवेदी जी ने इस काल के महत्व को भारत में   के प्रवेश के रूप में स्वीकार किया है। 'सन् ईसवी के कुछ सौ वर्ष पूर्व से लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तक इस देश में अनेक मानव   आती रहीं और यहीं की हो रहीं। इन जातियों के विश्वासों, विचार परम्पराओं ने भारतीय   को   किया था।'[2]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४२

२- वही , खण्ड ८, पृष्ठ ७०

द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति पर विदेशी प्रभाव स्वीकार करते हुये इस बात पर विशेष बल दिया है कि चाहे कितना भी प्रभाव पड़ा हो, भारतीय संस्कृति ने बड़ी कुशलता से अपने में उसे समाहित कर लिया है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'मैं संस्कृति को किसी जाति विशेष या वर्ग विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार की एक मानव संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है।'[1] किन्तु भारतीय संस्कृति की [illegible] उदारता ही है कि उसने अपने अन्दर बहुत कुछ समाहित कर लिया है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में 'देश और काल में जितनी दूर तक दृष्टि जाती है...... . स्पष्ट दिखाई देता है........ एक आदर्श, एक जीवन-दर्शन, एक प्रेरणा, एक लक्ष्य, न जाने कब से भारत की अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित वह अद्भुत एकता कायम करती आ रही है। इतने वैविध्य और इतने वैचित्र्य के अन्तर में ऐसी अगाध एकता की बात कुछ [illegible]नक ही दीखती है, पर है सत्य।'[2]

द्विवेदी जी ने विदेशियों के आक्रमणों के विषय में कविवर रवीन्द्रनाथ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि 'यह लुहार की दुकान की खटाखट और धूल-धक्कड़ से हमें घबराने की जरूरत नहीं है, अन्दर वीणा के तार तैयार हो रहे हैं, जब ये तार तैयार हो जायेंगे, तो एक दिन मधुर ध्वनि संगीत से निखिल ही मन प्राण तृप्त हो जायेंगे।' ये युद्ध विग्रह, ये कूटनीतिक दाव-पेंच, ये दमन, शोषण के साधन, ये सब एक दिन समाप्त हो जायेंगे।[3]

सिकन्दर के आने से विचारों के रूप, ग्राम [illegible] के लोक गीत एवं जन-जीवन कुछ समय के लिये ठहर-सा गया था परन्तु उसके जाते ही लोक

१- ह० प्र० द्वि०ग्रन्था, खण्ड ६, पृष्ठ १७४

२- वही , ,, पृष्ठ २०८

३- वही , ,, पृष्ठ २००

गीतों की ध्वनि पुनीत हो गयी, किसानों के बैलों के गलों में पड़ी घंटियां बज उठीं, भारतीय संस्कृति अप्रभावित रही। वीणा के तार जो तैयार हो रहे थे उनसे पुन: मधुर संगीत की ध्वनि निकलने लगी। भारत की संस्कृति निरन्तर गति से होती रही। इसी बीच भारतीय राजनीतिक इतिहास के रंगमंच पर चन्द्रगुप्त का उदय हुआ (३२४ से ३०० ईसा पूर्व)। उसके प्रपौत्र अशोक ने साम्राज्य को और विस्तृत किया। उसने बौद्ध धर्म को अपनाया और विदेशों में दूत भेजकर भारतीय संस्कृति एवं बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस प्रकार समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एकच्छत्र के जिस आदर्श की कल्पना ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है, उसे मौर्य काल में वास्तविकता का रूप मिला।

राजनीतिक घटनाचक्र के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने चाणक्य की महत्ता का उल्लेख करते हुए उसे भारतीय परम्परा में एक अद्भुत व्यक्तित्व बताया है।

यह एक भ्रामक धारणा है कि भारतीय अधिकांशत: परलोक के प्रति अधिक चिन्तनशील होते थे, और इहलोक के बारे में उनके कोई विचार नहीं है। आरम्भ में अर्थ, धर्म का ही एक अंग था और इसी कारण कतिपय स्मृति ग्रन्थ उन विषयों पर चर्चा करते हुए दिखाई देते हैं जो वस्तुत: का विषय है। में बृहस्पति, विशालाक्ष, उशनस, प्राचेतस - मनु और गौरशिरस आदि का , पर आधिकारिक विद्वान के रूप में उल्लेख किया गया है। इसके बाद ऐसे हुए जिन्होंने अर्थ, काम का स्वतन्त्र विषयों के रूप में अध्ययन किया। इस प्रकार का आविर्भाव हुआ।

संस्कृत में कौटिल्य रचित का महत्वपूर्ण स्थान है। इससे भारतीय जीवन के व्यावहारिक पक्ष की जानकारी मिलती है। जी ने के जीवन वृत्त के विषय में अनेक तथ्यों का उल्लेख किया है जिससे अथवा मौर्य का और मंत्री

था । आश्चर्य का विषय है कि मेगस्थनीज ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया । यह निश्चित नहीं है कि चाणक्य का नाम कौटिल्य था या कौटल्य था । कौटिल्य उन्हें कुटिल राजनीति होने के कारण कहा जाता था और कौटल्य उनके गोत्र का नाम था । एक विचार यह भी है कि वे तक्षशिला में राजनीति के आचार्य थे । पुराणों एवं मुद्रा राक्षस से विदित होता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री था और नंदवंश के उन्मूलन का उत्तरदायी था । अनेक विद्वान चाणक्य को चन्द्रगुप्त का अमात्य नहीं मानते । साहित्यिक आधार पर कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र को तीसरी शताब्दी ईसा की रचना माना जाता है[1] । कौटिलीय अर्थशास्त्र से भारतीय संस्कृति के विषय में अनेक प्रकार की जानकारियां मिलती हैं । इस ग्रन्थ के अनुशीलन से तत्कालीन जन-जीवन राज्यानुशासन तथा राज्य के विभिन्न कार्यों के विषय में सूचना मिलती है ।

आश्चर्य होता है कि उस काल में अनुभव और भारतीय परम्परा के आधार पर लिखा गया कौटिल्य का अर्थशास्त्र व्यावहारिक ही नहीं, राज्य और सम्पत्ति अर्जन के लिये बुरे से बुरे साधन के उपयोग की बात करता है । इस ग्रन्थ में छल, कपट, प्रपंच के ऐसे अनेक साधन बताये गये हैं जो धर्म के अनुकूल नहीं है..... कौटिल्य की छल प्रपंच वाली नीति को देखकर प्राय: मैकियावेली के साथ तुलनीय मान लिया जाता है । लेकिन इस विषय में सावधानी से काम लेना चाहिए । कौटिल्य कोई राजनीतिक दर्शन नहीं दे रहे थे । वे पूर्ण रूप से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को मानकर चलते हैं । वे ब्राह्मण धर्म अनुमोदित पुरुषार्थों में विश्वास रखते थे । वे यद्यपि अर्थ को काम और धर्म का मूल मानते हैं तथापि धर्म, अर्थ, काम के पूर्वाचार्यों द्वारा विहित वरीयता क्रम को स्वीकार भी करते हैं । मैकियावेली की दृष्टि में राज्य ही सब कुछ है, उसकी रक्षा और उसकी समृद्धि के लिये गलत सही तरीके अपनाये जा सकते हैं । परन्तु   की दृष्टि में राज्य साधन मात्र है । इसका उद्देश्य पहले से ही चली आती हुई क्लासिक   की रक्षा है । इस

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३००

प्रकार हृदय के बारे में दोनों विचारक बिल्कुल अलग-अलग ढंग से सोचते हैं। इसलिये मैकियावली कौटिल्य को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।[१]"

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से जिस संस्कृति का परिचय मिलता है। वह भारतीय संस्कृति के विकासक्रम का प्रथम महत्वपूर्ण चरण था।

इतिहास में आशा और निराशा के युग आते ही रहते हैं, हमारे दीर्घ इतिहास में तो ये न जाने कितनी बार आये हैं। आशा का अभ्युदय स्वर्ण युग की कल्पनाओं को बढ़ावा देता है। निराशा और अवसाद का बोध पापाश्रयी युग की कल्पना को उत्साहित करते हैं।[२]" द्विवेदी जी के इस वक्तव्य को चरितार्थ करते हुए मौर्य साम्राज्य पतनशील हो गया और पुन: भारतीय संस्कृति के विकास में एक अन्तराल आ गया। ईसा पूर्व १८७ में ध्वस्त मौर्य साम्राज्य के अन्त के साथ ही भारतीय इतिहास की राजनीतिक एकता भी कुछ समय के लिये विच्छिन्न हो गई। मगध के वैभव का का स्थान साकल, विदिशा, प्रतिष्ठान आदि नगरों ने ले लिया। उत्तर पश्चिम से विदेशियों के आक्रमण मौर्योत्तर काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक, सांस्कृतिक घटना थी। इस काल में यूनानी सम्पर्क का भारत पर प्रभाव पड़ा और यह कहा जा सकता है कि भारत पर यूनानी संस्कृति का प्रभाव जमाने का जो कार्य सिकन्दर नहीं कर सका था, वह भारत में इण्डोग्रीक साम्राज्य स्थापित होने से पूर्ण हो गया।

मौर्योत्तर काल के सांस्कृतिक वातावरण में एक नवीन उत्साह और एक नये बोध का प्रारम्भ कला के रूप में हुआ। "कुषाण नरपतियों ने जिस गान्धार शैली की मूर्तिकला को बहुत सम्मान दिया, वह स्वयम् हो गयी।[३]" द्विवेदी जी का विचार है कि आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार,

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ८, पृष्ठ ३७२
२- वही, खण्ड ५, पृष्ठ २३
३- वही, खण्ड ५, पृष्ठ २७

विचार, क्रियाकाण्ड आदि सभी विचारों पर इस युग की अमिट छाप है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से स्पष्ट कर देना उचित होगा कि द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के कालों के विषय में अपनी अलग मान्यता अभिव्यक्त की है। इस सन्दर्भ में उनका यह कथन विशेष उल्लेखनीय है कि मध्य युग या मध्यकाल शब्द भारतीय भाषाओं में नया ही है.... बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर कलि नाम के चार युगों की कल्पना मिलती है।[1] वस्तुत: यूरोप के इतिहास में जिस समय मध्य युग का प्रारम्भ हुआ उस समय भारतीय इतिहास में नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ था। संस्कृत भाषा ने नयी शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नये ढंग की राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गयी...... इस काल को चाहे जो कहा जाय, पतनोन्मुखी और बंधी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता, जो पुराण और स्मृतियां आजकल निस्सन्दिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं। उनका सम्पादन अन्तिम रूप से इस काल में ही हुआ था..... इस काल को भारतीय उन्नति को स्तब्ध होने का काल कहा जा सकता है।[2] द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सन् ईसवी की पहली शताब्दी में मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन सम्बन्धी चिह्नों का मिलना एकाएक बन्द हो जाता है, इसके बाद का दो तीन सौ वर्षों का काल अन्धकार युग कहा जाता है। यद्यपि विद्वान इस युग के के सम्बन्ध में नये-नये सिद्धान्त करते रहते हैं। तथापि मुख्य बात ये है कि इस काल का लिखने की सामग्री है।[3]

स्वर्ण युग :-

दो सौ बीस ईसवी में मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की प्रगाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा और चन्द्रगुप्त नामक पराक्रमी

१- ह० प्र० ग्रन्था, खण्ड ५, पृष्ठ १६
२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ २०
३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २६२

सम्राट उत्तर भारत से विदेशियों की सत्ता को उखाड़ फेंकता है । राजनीतिक वंशानुक्रम का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है - 'कि उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने अपने पिता के विदेशी सत्ता उन्मूलन कार्य को और आगे बढ़ाया और उसके योग्यतर प्रतापी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त या प्रसिद्ध विक्रमादित्य ने अपने रास्ते में एक भी कांटा नहीं रहने दिया ।'[1] इस समय गुप्त साम्राज्य पूर्व पयोधि से पश्चिम पयोधि तक फैला हुआ था । 'सनातन वैदिक धर्म गुप्तों की राष्ट्रीय निष्ठा और प्रताप से यौवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया'[2] ।

गुप्त सम्राटों के सुदृढ़ साम्राज्य ने भारतीय जन समूह में नवीन राष्ट्रीयता, विद्या प्रेम का संचार किया । इस युग में राज-काज से लेकर समाज, धर्म, साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है । ऐतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में सांस्कृतिक क्षेत्र की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि जब ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा में नवीन प्राणों की प्रतिष्ठापना हुई । विदेशियों द्वारा व्यवहार किये जाने वाले अनेक शब्द तिरस्कृत कर दिये गये । कुषाणों द्वारा समर्थित गान्धार शैली की कला तिरोहित हो गयी और पूर्णत: स्वदेशी मूर्ति शिल्प, वास्तु शिल्प की प्रतिष्ठा हुई । गुप्तों के भागीरथी प्रयत्नों द्वारा राजनीतिक आधार, विचारों में अनेक परिवर्तन आये । यहां तक कि राजकीय पदों के नाम भी बदल दिये गये । समाज और जाति व्यवस्था में भी गहरा परिवर्तन हुआ । 'सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नयी उमंग के साथ प्रकट हुआ ।'[3] कुछ साहित्यकार जब और संस्कृति के विकास को छूता है तो उसकी अभिव्यक्ति कल्पना में तथ्यों को संजोने लगती है । द्विवेदी जी की इस प्रतिभा के दर्शन हमें उनके द्वारा

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ७, पृष्ठ २९२

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ २६

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २९३

किये गये कालिदास के अयोध्या की दारुण दशा के विवरण में मिलते हैं । उन्होंने लिखा है कि `कालिदास ने अयोध्या की दीनावस्था दिखाने के बहाने मानों गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्ती काल के समृद्ध नागरिकों की जो दुर्दशा हुई थी, उसका अत्यन्त हृदय विदारक चित्र खींचा है । ऐसे विध्वस्त भारतवर्ष को गुप्त सम्राटों ने नया जीवन दिया है । कालिदास के ही शब्दों में कहा जाय तो `सम्राट के नियुक्त शिल्पियों ने उस दुर्दशाग्रस्त नगरी को इस प्रकार नयी बना दिया जैसे - निदाघग्लपिता धरित्री को प्रचुर जलवर्षण से मेघगण ।[1]

`गुप्त सम्राटों के इस पराक्रम को भारतीय जनता ने भक्ति और प्रेम से देखा । शताब्दियां, बीत गये पर आज भी भारतीय जीवन में गुप्त सम्राट घुले हुए हैं,...इसलिये कि आज के भारतीय धर्म,समाज,आचार-विचार, क्रिया-काण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है ।[2]

ऐतिहासिक उत्थान-पतन की प्रक्रिया को चरितार्थ करते हुए गुप्त साम्राज्य का अन्त हो गया । `यद्यपि गुप्त सम्राटों का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी में रुक चुका था पर साहित्य के क्षेत्र में उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी न किसी रूप में ईसा की नवीं शताब्दी तक चलता रहा ।[3] गुप्तों के बाद कान्यकुब्ज मौखरि शक्तिशाली राजा हुए और ६०६ ईसवी में श्री अन्तिम हिन्दू सम्राट के रूप में थानेश्वर के शासक हुए । कन्नौज के का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है कि इन तीन शताब्दियों में कान्यकुब्ज सब प्रकार से समृद्ध और शक्तिशाली राज्य था । जब नवीं शताब्दी

१- रघुवंश - १६-३८
२- ह० प्र० द्वि०ग्र०, खण्ड ७, पृष्ठ०२२४

२- ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २६४

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २६४

में इसके शासक मण्डित एकदम अशक्त हो गये तो भी राजलक्ष्मी कन्नौज छोड़ने को तैयार नहीं थी। उस समय बंगाल में पालों का राज्य था जो पहले कई बार इस राज्यलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी के रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुके थे। दक्षिण में राष्ट्रकूटों का शक्तिशाली राज्य था। जिसका उदय आठवीं शती के मध्य भाग में हुआ था और लगभग सवा दो सौ वर्षों तक उन्होंने प्रबल प्रताप के साथ शासन किया था। कभी-कभी उनकी तलवार गंगा-यमुना के दोआबे में भी झनझना उठती थी।[१] नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में तीन प्रधान शक्तियां थीं। कान्यकुब्ज के प्रतीहार, गौड़ के पाल तथा मान्यखेट के राष्ट्रकूट। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। उधर उत्तर पश्चिमी सीमान्त से मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ हो गया था। सिन्धु में उनकी जड़ भी जम चुकी थी।"

इस युग की ऐतिहासिक कालक्रम की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने अपनी साहित्यिक रचनाओं में भारतीय संस्कृति के विकास की रूपरेखा खींची है। इस युग में महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। कृषकों के रूप में शूद्रों का रूपान्तरण, और वैश्यों के स्तर में शूद्र स्तर तक की गिरावट से वर्ण-व्यवस्था में विशिष्ट परिवर्तन हुआ। यहां तक कि बंगाल और दक्षिण भारत में स्थापित नवीन ब्राह्मणीय व्यवस्था में मुख्य रूप से केवल ब्राह्मणों और शूद्रों का प्रावधान किया गया था। परम्परागत वर्ण-व्यवस्था में जिसके अनुसार समाज मोटे रूप से चार वर्णों में विभक्त था, ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

राजपूत युग और भारत में इस्लाम :-

भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में इस युग की एक अन्य महत्वपूर्ण

१- ह० प्र० द्वि० ग्रन्थावली, खण्ड ६, पृष्ठ २६

घटना राजपूतों का अभ्युदय है जिन्होंने प्राचीन क्षत्रियों का स्थान ले लिया था । रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था में वैश्यों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था । खान-पान तथा अन्य प्रकार के सामाजिक व्यवहार में वैश्य शूद्रों से अधिक निकट दिखाई देते हैं । शूद्रों की सुधरती हुई आर्थिक स्थिति भी इसका एक कारण हो सकता है । किन्तु शूद्रों की सामाजिक स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो पाया था । सामन्तवाद का विकास भी इसी युग में हुआ । 'कलियुग का पूरा प्रभाव सन् ईसवी के दूसरे सहस्राब्दक में अनुभूत हुआ था'[1] ।यह लगभग वही समय था जबकि महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था ।[2] द्विवेदी जी ने बड़े रोचक एवं तथ्यपूर्ण ढंग से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है । उनके ही शब्दों में भारतीय इतिहास में इस्लाम का आगमन एक बहुत महत्वपूर्ण घटना थी । शुरू-शुरू में ऐसा लगा कि उसकी मूल भावनाओं से स्थानीय भावनाओं का मेल नहीं बैठेगा । भारतीय मनीषा ने उसके साथ समझौता भी किया । दोनों धर्मों के मूल तथ्यों को खोज निकाला गया ।[3] द्विवेदी जी ने इस काल के सांस्कृतिक एवं धार्मिक संकटों की चर्चा करते हुये लिखा है, 'बाहरी आडम्बर और अर्थहीन आचारों के बोझ से लोग दबे हुये थे, धर्म के नाम पर ऐसी बातों के चक्कर में पड़े हुये थे जो अपना उद्देश्य खो चुकी थी । यह सांस्कृतिक और धार्मिक संकट का काल था । 'यह समय भारत के लिये और विशेषतः इसके आध्यात्मिक जीवन के लिये बहुत ही अन्धकार का था । अनेक प्रकार के कुसंस्कारों और अन्धविश्वासों से देश त्रस्त था । विदेश से एक ऐसी शक्तिशाली धार्मिक संस्कृति का आक्रमण हुआ था जो उसे हर क्षेत्र में चुनौती दे रही थी । लोगों का मनोबल समाप्त होने को आया था । यह एक सांस्कृतिक और धार्मिक संकट का काल था ।[4] किन्तु

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २१

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३५४

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २८८

तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यों के ठहराव और संकटों के होते हुये भी द्विवेदी जी ने आशा की किरण के रूप में यह विचार प्रस्तुत किया है कि 'हमारे देश में संघर्षों और संघातों की विशाल शृंखला है। हम बराबर उन संघर्षों में से तेजोदृप्त होकर निकले हैं[1]।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई थी।[2] प्रतीत होता है कि संबद्ध धर्माचार से द्विवेदी जी का संकेत इस्लाम धर्म की ओर है। जिसके अनुसार इस्लाम धर्म में इस्लाम के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने की अनुमति नहीं है। जब इस नवीन धर्म मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जाने वाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक ठीक समझ ही नहीं सका। कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। द्विवेदी जी के अनुसार समन्वय का अर्थ है कुछ झुकना, कुछ दूसरे को झुकने के लिये बाध्य करना। वस्तुत: भारतीय संस्कृति सदैव से ती रही है। इसी कारण से जितने विदेशी आये किन्तु वह उनके आदान-प्रदान, मिलन पारस्परिक सम्बन्ध, एक दूसरे का प्रभाव ग्रहण, गुण ग्रहण की प्रवृत्ति, नयी चेतना और नये जीवन के प्रति उत्सुकता, आदि के आधार पर समन्वय करती रही। वस्तुत: सार्थक समन्वय का आधार सैद्धान्तिक एवं तात्त्विक होता है किन्तु दो संस्कृतियों के टकराव के प्रारम्भिक चरणों से ही समन्वय का प्रारम्भ नहीं होता। इसमें कुछ समय लगता है इस्लाम के भारत आने पर प्रारम्भ में ऐसा ही रहा। 'एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिये समाज की ऊंच-नीच भावना मजाक और का विषय थी दूसरे के लिए मर्यादा और स्फूर्ति..........

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ३, पृष्ठ १९०

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३३२

एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अज्ञान का भरोसा, एक के लिये पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिये समस्त ब्रह्माण्ड भी पिण्ड। एक को भरोसा अपने पर था, दूसरे को राम पर। एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक योगी था दूसरा भक्त।[१] हिन्दू और मुसलमानों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी का यह वक्तव्य निश्चय ही बहुत सारगर्भित है।

मुसलमानों के भारत आगमन पर हिन्दू समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। 'दसवीं शताब्दी के बाद जाति-पाँति की व्यवस्था तेजी से दृढ़तर होती गयी और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को ढकेलती चली गयी।[२] इस काल में एक ओर देश की राजशक्ति खण्ड-विच्छिन्न होने लगी, वहां वेदाध्यायी और संस्कृत विद्या के संरक्षक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा.....क्षत्रिय शक्ति भी निरन्तर विभाजित हो रही थी। इसका प्रभाव भेदरहित वणिक निचली श्रेणियों पर भी पड़ रहा था।[३]'

द्विवेदी जी ने तत्कालीन परिस्थितियों की खुलकर चर्चा की है। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अंगीकार करने को बद्धपरिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्ममत को स्वीकार करले। समाज से दण्ड पाने वाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था।[४] इसके विपरीत हिन्दू धर्म आचार भ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था उलटे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। यह आचार भ्रष्ट न तो हिन्दू थे और न तो मा। कुछ काल के इस्लामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे धर्ममत की ओर झुकने लगे।[५]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ४, पृष्ठ ३१६

२- वही, खण्ड ५, पृष्ठ ३५५

३- वही, खण्ड ५, पृष्ठ ३५४-३५५

४- वही, खण्ड ४, पृष्ठ ३३४

५- वही, ,, , पृष्ठ ३३३

भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखते हुए व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती था .... इस्लाम ने भारत के समस्त कुफ्र को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर इस देश में पदार्पण किया[1]। द्विवेदी जी के विभिन्न वक्तव्यों का सार संक्षेप यही है कि जिस घटना से भारत की संस्कृति को पहली बार धक्का लगा 'वह घटना इस्लाम जैसे सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था'[2]। इस्लामी संस्कृति के रूप में मुसलमानी शासकों ने हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किया, मन्दिरों को लूटा और बलात् धर्म परिवर्तन का प्रयास किया, इस्लाम के ये धर्म योद्धा असहिष्णु थे। वे स्त्रियों और बच्चों को भी मौत के घाट उतार देते थे। अनेक नारियों ने करके मृत्यु को स्वीकार करना बेहतर समझा। वे हिन्दुओं को काफिर कहकर उनसे घृणा करते थे। इससे पहले कभी इतने धर्मान्ध आक्रमणकारियों से हिन्दुओं का पाला नहीं पड़ा था। इस्लाम का प्रारम्भिक प्रभाव भारत में घृणा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। घृणा से घृणा ही उत्पन्न होती है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में ऐसे गुण थे कि राजनीतिक रूप में पराजित होकर भी वह वास्तविक रूप में स्थिर रही। भारतीयों ने अत्याचारों को सहन किया और अपने धर्म पर दृढ़ रहे। भारत की प्राचीन संस्कृति, परम्परायें उन्हें बल देती रहीं। मुसलमानों ने जहां अन्य देशों में विजय प्राप्त की थी वहां के लोग इस्लाम के विरुद्ध अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे। उनकी सभ्यता और संस्कृति में वह बात न थी जो धार्मिक उन्माद, के समक्ष टिक पाती। मुसलमानों के आने से हिन्दू समाज में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति भी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुई। प्रथम बार भारतीय समाज को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी।

१- ह० प्र० ग्रन्था० पृष्ठ ३१३

२- वही, पृष्ठ ३३०

३- वही, खण्ड ५, पृष्ठ २६७-६८

अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था, ... समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था[१]। धर्म पर आधारित मुसलमानी राजनैतिक तन्त्र के लिये ये स्वाभाविक ही है कि राजसत्ता का उपभोग तथा उपभोग धर्म के नियमों के अनुसार किया जायेगा। जब मुसलमान शासक के व्यक्तित्व में धर्म, राज्य का समन्वय हो गया तो उसकी आज्ञा धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्र में समान रूप से लागू हो गयी। द्विवेदी जी ने इस सन्दर्भ में अनेक वक्तव्यों द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि भारत में मुस्लिम राज्य धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित था तथा इसका उद्देश्य इस्लाम को सम्पूर्ण मुस्लिम राज्य का एकमात्र मान्य धर्म बनाना था। वास्तव में सिद्धान्त चाहे जो भी रहा हो राजनीति और धर्म का समन्वय करने के प्रयत्न में प्रारम्भिक मुसलमान शासक इन दोनों में से किसी एक का भी महत्व नहीं समझ सके और अनेकों बार भारतीय संस्कृति के धर्मवीरों के समक्ष पराजायी हुए। द्विवेदी जी ने इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, , सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही यह आसन तैयार किया जा सकता है। जहां एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक रहेगी, मारा-मारी रहेगी, प्रतिस्पर्धा रहेगी।[२] भारत में मुसलमानों के आने से पहले यहां का सहिष्णुता तथा की भावना से ओत-प्रोत था और जैसा कि द्विवेदी जी ने उपरोक्त वक्तव्य में कहा है - यहां पर वह आसन तैयार था जिस पर एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की से मिलता था। यहां पर जितने भी धर्म, , मत तथा विचार प्रणालियां थीं वे भारतीय भूमि की उपज थीं और उनकी वैचारिक,

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २४७-४८

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३१२

व्यवहारिक, सैद्धान्तिक प्रणाली भारतीय परम्पराओं के अनुसार थी । अब हिन्दू धर्म का यह दावा था कि उसे धर्म के विषय में पूर्णत्व प्राप्त है । दूसरी ओर इस्लाम का यह दावा था कि वह लोक कल्याण के लिये एक राष्ट्र बने । कुछ भी हो, लगभग पांच शताब्दियों तक हिन्दू और मुसलमान भारत में सर्वथा भिन्न वर्गों के रूप में बने रहे । हिन्दुओं को धार्मिक और राजनीतिक कारणों से मुसलमानों के अनेक अत्याचार सहने पड़े । तत्कालीन जीवन संघर्षपूर्ण और आशंकाओं से ओत-प्रोत था । हिन्दू और मुसलमान वास्तविक अर्थों में एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर पा रहे थे । परन्तु चौदहवीं शती ईसवी में अनेक समन्वयकारी प्रवृत्तियां उत्पन्न होने लगीं । नामदेव, कबीर आदि ने इस दिशा में सराहनीय कार्य तो किया परन्तु उसके परिणाम बहुत बाद में प्राप्त हुए ।

मध्यकालीन संस्कृति :-

द्विवेदी जी रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उद्धरण देते हुये कहते हैं कि यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवर्ष की साधना नहीं है ।..... व्यक्ति विशेष की शक्ति में ही उसका उद्भव और विकास हुआ "।[१] द्विवेदी जी के विचारों का सम्यक् अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि   में हिन्दू मुसलमानों की संस्कृति का टकराव होता रहा । द्विवेदी जी ने इस बात को बार-बार जोर देकर कहा है कि इस्लाम ने भारत की   व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया ।" यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित   का आगमन था, इस घटना ने भारतीय धर्म और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया था । उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ४, पृष्ठ ५३-५४

बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी[१]। द्विवेदी जी ने लिखा है, 'भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता।'[२] इसके विपरीत मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त शब्द 'मज़हब' एक संगठित धर्म मत है और मज़हब भारत की प्राचीन नाना जातियों से उलटा पड़ता है। मज़हब व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। मुसलमानी धर्म एक मज़हब है। भारतीय समाज का बिलकुल उलटे तौर पर संगठन हुआ था .... मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्ममत का प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेने वाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी है।'[३] द्विवेदी जी ने मुसलमानों और इस्लाम को इस बात का श्रेय दिया है कि 'पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संबद्ध धर्माचार के पालन की ज़रूरत महसूस हुई। इस्लाम के आने से पहले इस विशाल जनसमूह का कोई एक नाम तक नहीं था। हिन्दू अर्थात् भारतीय अर्थात् गैर इस्लामी मत।' द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'मुसलमानों के आने से हिन्दू समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उनकी जाति प्रथा अधिकाधिक कड़ी होने लगी। कुल का मद और वर्ण-संकरता की आशंका ने समूचे समाज को ग्रस लिया।'[४] इस्लाम के आने के सन्दर्भ में वे आगे कहते हैं कि 'देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को एक अद्भुत कड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी न था।'[५] यद्यपि इससे पहले भी नयी-नयी जातियों के आने से नयी समस्यायें खड़ी होती रही थीं और हिन्दू

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३३६

२- वही

३- वही , ,, , पृष्ठ ३३७

४- वही ,, ,, , पृष्ठ ५५

५- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ५२

शास्त्रकारों ने ऐसी परिस्थिति में नयी स्मृतियां और नये-नये पुराण रचकर इन समस्याओं को हल करने की कोशिश की थी । इन सभी परिस्थितियों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे जबर्दस्त है और जाति-व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जन-समुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने में बिल्कुल नहीं हिचकते, हिन्दू भी नहीं मुसलमान भी नहीं । किसी जाति पर जब दूसरी जाति का प्रभाव पड़ता है तो उसका सबसे बड़ा कारण जातिगत, कल्पित हीनता का भाव होता है ।[1] द्विवेदी जी के शब्दों में, "दसवीं शताब्दी के बाद जाति-पांति की व्यवस्था तेजी से दुरुस्त होती गयी और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को ढकेलती चली गयी । इस प्रकार यह एक विचित्र-सी बात है कि जाति-पांति को तोड़ने वाली संस्कृति के आक्रमण ने इस देश के समाज में जाति-पांति का भेदभाव और भी अधिक बढ़ा दिया ।[2]" किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें से भी बहुत-सी अल्पसंख्यक, अपौराणिक मत की जातियां या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान । तत्कालीन धर्म और समाज के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनके सन्दर्भ में निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक जीवन संघर्ष तथा आशंकाओं से ओत-प्रोत था । रोचक बात यह है कि हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे को वास्तविक अर्थों में प्रभावित नहीं कर पा रहे थे । परन्तु चौदहवीं शती ईसवी में अनेक [illegible] प्रवृत्तियां उत्पन्न होने लगी थी । अनेक संत सूफियों ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किये । उनका उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है - "बहुतों की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या

१- ह० प्र० ग्रन्था खण्ड १०, पृष्ठ २८८

२- वही . खण्ड ५, पृष्ठ ३५५

में श्रद्धालु हिन्दू, मुसलमान जनता अपनी भक्ति का निवेदन करने प्रतिवर्ष आती है । यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगती है कि उन दिनों जबकि हिन्दू-मुसलमानों की लड़ाइयां आम बात थी, किस प्रकार ऐसा मिलन संभव हो सका । मध्ययुग बहुत कुछ करामातों का युग था[1]।

द्विवेदी जी ने कहा है कि "मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति की वृथा मोहों को रौंदती चली जा रही है । न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी । संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है[2]। जब-जब कोई नई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नयी प्रवृत्तियां आती हैं, नयी आचार परम्परा का प्रचलन होता है । नये काव्य रूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जन चित्त मुखरित हो उठता है[3]। मध्यकालीन संस्कृति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी के विचारों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हुये यह कहा जा सकता है कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने सफलता प्राप्त करके एक केन्द्र से सारे देश में शासन करने का प्रयास किया । इससे भारत में राजनीतिक एकता की भावना का दृढ़ीकरण हुआ । राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति का बीजरूप मुखरित हुआ । तुर्क,अरबी, फारसी भाषा का मिश्रित प्रयोग होने लगा । इसका प्रभाव पंजाबी,सिन्धी, बंगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी भाषाओं पर पड़ा । फारसी भाषा में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित कई ग्रन्थ लिखे गये । अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुल रहीम आदि जैसे मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया । में उर्दू भाषा का विकास हुआ । इस

१- ह० प्र० ग्रन्था खण्ड ३, पृष्ठ ८१

२- वही खण्ड ६, पृष्ठ २३

३- वही खण्ड ३, पृष्ठ ६५४

भाषा को हिन्दू और मुसलमानों ने समृद्ध करने का प्रयास किया, जिससे आपसी विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान करने का सरल साधन मिला ।

उत्तर भारत में रामानन्द, कबीर, दादू, नानक, महाराष्ट्र में नामदेव, तुकाराम ने आध्यात्मिक स्तर पर मुसलमान और हिन्दुओं के जीवन में एकता लाने के प्रयत्न किये । धार्मिक क्षेत्र में इस्लामी और भारतीय संस्कृति का सम्मिलन हिन्दू भक्तिवादियों मुसलमानी सूफियों की साहित्यिक रचनाओं से सूचित होता है । इस काल में हिन्दुओं में जाति भेद, ऊंच-नीच का आधिक्य था । मुसलमानों के बीच ऐसा नहीं था । कबीर ऐसे सर्वप्रथम संत थे जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम धर्म के भेदभावों को कम करने की दिशा में क्रान्तिकारी प्रयास किया ।

संतन जात न पूछो निरगुनियां
साध ब्राह्मन साध छतरी, साधै जाती बनियां
साधनमां छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियां ।
साधै नाऊ, साधै धोबी, साधै जाति है बरियां ।
साधनमा रैदास संत है सुपच ऋषि सो भंगिया ।
हिन्दू तुर्क दुइ दीन बने हैं कछू नाहिं पहिचनियां ।

इस पद का भावार्थ यह है कि भगवान मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ स्थानों में नहीं मिलते । बाहरी क्रिया कर्म से या योग वैराग्य से नहीं मिलते । वे मनुष्य के अन्दर में ही वर्तमान है । वहीं उन्हें सहज ही पाया जा सकता है । कबीर के विचारों पर सूफीवाद का पर्याप्त प्रभाव था ।[१] सूफीवाद के अनुसार ईश्वर सब जगह विद्यमान है और हर मनुष्य के हृदय में बसता है । सभी धर्म श्रेष्ठ और समान है । इस काल के अनेक साहित्यकारों

१- क० ग्रं० ग्रन्था, खण्ड ४, पृष्ठ १७७

तथा धार्मिक विभूतियों ने हिन्दू, मुसलमान के धार्मिक भेदभाव को कम करने पर ज़ोर दिया था। ब्राह्मणों की छुआछूत की भावना तथा हिन्दू धर्म के आडम्बरों को समाप्त करने का भी प्रयास किया। इस विषय में द्विवेदी जी ने आशंका व्यक्त करते हुये लिखा है, "ऊँच नीच में भेद को मिटा देने के लिये धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। जो लोग अब भी आशा लगाये हैं कि धार्मिक आन्दोलन करके इस कठोर व्यवस्था को शिथिल कर देंगे वे इतिहास से बहुत कम सीख पाये हैं। एक अर्थ में मुसलमानों के आगमन के प्रभाव के कारण ही समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी। अनेक हिन्दुओं ने इस्लामी धार्मिक आचरणों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा। मुसलमानी पीरों और मज़ारों पर अनेक हिन्दू श्रद्धालु जाने लगे। हिन्दू और मुसलमानों ने धार्मिक क्षेत्र में एक दूसरे के अनेक तत्व स्वीकार किये।

इस समय हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला के तत्वों में समन्वय प्रारम्भ हो गया था। मुगलों के काल में इसने पूर्णता प्राप्त की। प्रारम्भ में मुसलमानों ने फ़ारसी, वास्तुकला के अनुसार निर्माण कराये। परन्तु बाद में, विशेषकर मुगलों के समय में, हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला का समन्वय होने लगा। हिन्दुओं की वास्तुकला में निर्माण की मजबूती के साथ शालीनता तथा भव्यता होती थी। मुसलमानों ने अपनी   में इन दोनों विशेषताओं को ग्रहण किया।   में तुर्की, ईरानी तथा प्राचीन भारतीय-शैली का समन्वय हुआ। उत्तर भारत में इस काल में राजपूत, कांगड़ा, जम्मू   प्रचलित हुईं। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम की   के समन्वय के लिये एक चित्रणालय खोला। इससे मुगल शैली का विकास हुआ। हिन्दुओं के प्रभाव से मुसलमानी   की सुन्दरता बढ़ी। मुसलमानी   के दरबार में भारतीय   गायन शैली का समन्वय हो गया था। सूफियों के प्रभाव से भक्ति गीतों तथा कविताओं को साज के साथ गाने का रिवाज प्रारम्भ हुआ।

संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में इस प्रकार के सम्पर्क से दोनों समुदायों का

समन्वित संस्कृतीकरण हुआ । परन्तु यह संस्कृतीकरण निर्बाध रूप से नहीं हुआ । द्विवेदी जी के विचार से दोनों समूहों ने ऐसे सांस्कृतिक लक्षणों को चुना जो उनके अनुकूल थे । ललित कलाओं में सर्वाधिक सांस्कृतिक समन्वय हुआ । धर्म में भी परिवर्तन हुए । हिन्दू और नीची जातियों को भक्ति के द्वारा ईश्वर प्राप्त करने का मार्ग बतलाया गया । यह भक्ति मार्ग ऊंची जाति के लोगों के लिये भी था । द्विवेदी जी ने इसे इस्लाम धर्म के समता के सिद्धान्त का प्रभाव माना है । धर्म में ऐसा कोई लक्षण न स्वीकार किया गया जो एक धर्म की बुनियादी बातों को प्रभावित करे । केवल ऐसी ही बातें स्वीकार की गयीं जो एक धर्म के अनुयायियों को अतिरिक्त सुविधायें देती थीं । जो सम्प्रदाय दोनों धर्मों में गम्भीर परिवर्तन लाना चाहते थे वे अनेक अनुयायियों के स्वतन्त्र समूह बन गये । अधिकतर हिन्दू ही मुसलमान बनाये गये थे । इसलिये संयुक्त परिवार प्रणाली मुसलमान परिवार में भी आ गयी । अकबर के समय संस्कृतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी, द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है । इस प्रक्रिया का प्रभाव अधिक दिनों तक नहीं रहा । यह एक रोचक बात है कि नगरों की सांस्कृतिक दशा गावों से विपरीत थी । नगरों में कलाओं तथा साहित्य का विकास अधिक हुआ । निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि दोनों संस्कृतियों की स्वतन्त्र सत्ता रहते हुये भी उनमें निकटता आ गयी । अंग्रेजों के आने के बाद हिन्दू और मुसलमानों में निकटता और बढ़ी । क्योंकि दोनों ही की राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुता के शिकार हुए । चूंकि हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति में सहजीवन का स्तर नहीं था, अंग्रेजों की विभाजन और शासन करने की नीति से भारत में अनेक भागों में साम्प्रदायिक दंगे हुये[1] जिनकी वजह से विसंस्कृतीकरण प्रक्रिया को

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३६६

उभर आयी । द्विवेदी जी के शब्दों में, मध्यकालीन संस्कृति के विकास के समापन का उल्लेख करते हुये कहा जा सकता है कि, 'विचित्र है यह देश । असुर आये, आर्य आये, शक, हूण आये, नाग, यक्ष आये, गन्धर्व आये न जाने कितनी मानव जातियां यहां आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गयीं । जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वे अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है ।'[1]

आधुनिक काल :-

आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन मूलत: भारतीय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम एवं तज्जनित नवचेतना का प्रतिफल है । एक ओर आधुनिक युग की सामाजिक एवं राजनीतिक विश्वव्यापी मान्यताओं को पाश्चात्य संपर्क के कारण आत्मसात् करने वाले भारतीय मनीषी चिन्तकों ने भारतीय परिवेश में उन्हें यथाशक्ति साकार करने का प्रयत्न किया है, तो दूसरी ओर परम्परा बद्ध चिन्तकों ने भारतीय परिवेश में व्याप्त सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के विचार-बिन्दुओं का अवलम्बन लेकर सांस्कृतिक चिन्तन के अविरल प्रवाह को बनाये रखा है । द्विवेदी जी के विचारों में इन दोनों का अद्भुत समन्वय मिलता है । उनका उद्देश्य भारतीयों में आत्म-चेतना, तथा आधुनिकता का अंकुरण और परिवर्द्धन रहा है । सुधार का मार्ग हो अथवा पुनरुत्थान का, द्विवेदी जी के चिन्तन की अन्तिम परिणति स्वाधीन भारत की संस्कृति का मार्ग निर्देशन करना रहा है। प्राचीनतम देश एवं संस्कृति के कारण भारत की मौलिक प्रतिभा बाद में उभरी। जिस मौलिक चिन्तन की दुहाई विचारकों के नव सुसंस्कृत भारतीय पट्ट शिष्य देते रहे हैं उन्हें शायद इस तथ्य का ज्ञान नहीं है कि सांस्कृतिक, सामाजिक चिन्तन के कर्णधार ग्रीक, रोमन तथा मध्ययुगीन विचारक, भारतीय विचारों, ग्रन्थों तथा प्रयोगों का विज्ञान,

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड ६, पृष्ठ २०

तथा आध्यात्म आदि के क्षेत्र में लोहा मानते रहे हैं । आधुनिक समय में भारतीय संस्कृति , राजाराममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द,महात्मागांधी, कवीन्द्र रवीन्द्र आदि के विचारों में प्रसारित हुई । द्विवेदी जी के कई वक्तव्यों से यह आभास मिलता है कि उन्होंने उन पाश्चात्य विचारकों को स्पष्ट रूप में चुनौती दी है, जो भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है, उनके अनुसार ऐसे लोग भारतीय होकर भी भारतीयता से नाक भौं सिकोड़कर चकाचौंध में अपनी वैचारिक वर्णसंकरता को नवीन शब्दावलियों चटपटी अंग्रेजी बोली तथा परिधान के माध्यम से छिपाने की चेष्टा में रत हैं ।

द्विवेदी जी का विश्वास है कि "मनुष्य न तो अपने व्यक्तिगत रूप में और न सामाजिक रूप में अचल है, शुद्ध है, ठहरा हुआ है या किसी अन्तिम सत्य के दर्शन कर चुका है, वस्तुत: वह कई संस्कृतियों, सभ्यताओं, आचारों, विचारों की टकराहट से बनता है । परिवर्तित होता है । व्यर्थ की हुई पुरानी चीजों को छोड़ता है और अर्थवान नई चीजों को अपनाता है । उन्होंने कहा है कि मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है वह सभ्यता संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है । न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों, व्रतों को धोती बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है । संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पायी है ।"[1]

अंग्रेजी शासन स्थापित होने से भारतीय संस्कृति का टकराव एक बिल्कुल नवीन व्यवस्था और मान्यता से हुआ । यह मान्यता और विचार संस्कृति के नाम से पुकारे जाते हैं । दूसरे शब्दों में अभी तक भारतीय संस्कृति जिस आधारभूत विचारधारा को अपनाये हुए थी वह "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त पर आधारित थी । आधुनिक काल के प्रारम्भ

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड ९, पृष्ठ २००

होने के प्राथमिक चरणों में जब अंग्रेजों का भारत में आगमन हुआ तो उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं का टकराव भारत की परम्परागत सभ्यता तथा संस्कृति से हुआ। भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व उनके देश इंग्लैण्ड का पूरी तरह से औद्योगीकरण हो चुका था। जब वे भारत में आये तो उन्होंने भारत में वस्त्र, लोहे, सीमेन्ट आदि के कारखानों की स्थापना की। इन कारखानों का निर्माण, संचालन, उत्पादन तथा तकनीकी विधि, औद्योगीकरण के सिद्धान्तों तथा उपलब्धियों पर आधारित थी। द्विवेदी जी ने इसको भौतिकता प्रधान आधुनिक संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हुये कहा है कि 'आज मशीन केवल हमारी सभ्यता को यन्त्रचालित ही नहीं बना रही है अपितु हमारे सामाजिक संगठन और बौद्धिक विवेचन भी यान्त्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। औद्योगीकरण और मशीनीकरण के प्रभाव की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, 'यन्त्रों के नितान्त नवात्मक युग में हम वास कर रहे हैं।' यहां कल्पना पग-पग वास्तविकता से टकराकर भोथी हो जाती है। दुनियां बदल गयी है। दुनियां का विश्वास बदल गया है। यन्त्रों के आविष्कार ने हमारे अन्दर नयी आशा और नयी ' ' पैदा कर दी है।[1] द्विवेदी जी के इस कथन में जो आशा शब्द आया है उसके परिणामों की चर्चा करते हुये उन्हीं के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है। पिछली शताब्दी में कई ऐसे क्रान्तिकारी आविष्कार पश्चिमी देशों में हुये, जिनसे राष्ट्रनीति में आमूल परिवर्तन हो गया। प्रेस ने ज्ञान को सुलभ कर दिया, वाष्प यन्त्र ने दूरी कम कर दी, और सम्बन्धी आविष्कारों ने जीवन को ज्यादा सुरक्षित बना दिया।[2] औद्योगीकरण और मशीनीकरण के विषय में आशंका अभिव्यक्त करते हुये वे लिखते हैं, 'वैज्ञानिक उन्नति और नयी शिक्षा के प्रवर्तन के साथ इस युग के शिक्षित मनुष्य के सोचने का ढंग बदला

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड ७, पृष्ठ ३०५
२- वही, खण्ड ६, पृष्ठ २८८

है । यह अब परलोक में मनुष्य के सुखी होने की बात नहीं सोचता । इसी लोक में इसी मर्त्यकाया में मनुष्य को सब प्रकार की दुरवस्थाओं और विपत्तियों से मुक्त करके सुखी बनाने की बात सोचता है । द्विवेदी जी ने जोर देकर कहा है कि भारतीय संस्कृति कभी भी कठोर नहीं रही है । अपने आदि काल से उसने अनेक विदेशी संस्कृतियों से सम्मिलन तथा सहवास किया है परन्तु कालान्तर में भारतीय संस्कृति का रूप, परिवर्तित होने की अपेक्षा परिवर्तनशील ही बना रहा है । इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी के सम्पूर्ण विचारों को दृष्टिगत करते हुये यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के भारत आगमन तथा उनका यहां पर प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर भारतीय संस्कृति ने अंग्रेजों की संस्कृति को खूब परखा फिर उससे परिचय स्थापित किया । इस बात को कहने में द्विवेदी जी को कोई संकोच नहीं है कि इस समय भारतीय जीवन विचारों तथा विश्वासों में बड़े परिवर्तन आये परन्तु भारतीय संस्कृति फिर भी भारतीय भूमि से जुड़ी रही । विदेशी वस्त्र धारण करके साहित्य,दर्शन,धर्म के प्रति आकर्षण रखते हुये भी भारतीयों की सांस्कृतिक आस्था भारतीय परिवेश ही पकड़े रही । इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनसे हमें समष्टि रूप में यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि विधि की दृष्टि में समानता, देश व्यापी औद्योगिक विकास, तथा संचार की व्यवस्था, शान्ति और सुव्यवस्था, शिक्षा की नवीन प्रणाली, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शोधकार्य, पक्षपातरहित न्याय, भूमि व्यवस्था, सामाजिक सुधार आदि के क्षेत्र में अंग्रेजों को भारत का आधुनिकीकरण करने का श्रेय प्राप्त है ।

इस विषय में द्विवेदी जी का दृष्टिकोण सुसन्तुलित है । उनकी धारणा है कि 'हर वस्तु को प्रभाव से प्रभावित, अतएव त्याज्य
उनके दिमाग की बात है । उनके अनुसार 'आधुनिक मानस गठन' की सही जानकारी के लिये ज्ञान है । यद्यपि द्विवेदी जी

का व्यक्तित्व और विचार मूलत: भारतीय है । परन्तु वे पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करना अनुचित नहीं मानते । वस्तुत: द्विवेदी जी ने पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता को न तो गर्हित बताया है और न ही उसके अन्धानुकरण की सलाह दी है । भारत और पाश्चात्य दृष्टिकोण के मध्य सन्तुलन स्थापित करते हुये वे न तो भारत की सभी बातों को उच्च कोटि की मानते हैं और न ही पाश्चात्य को अस्पृश्य मानते हैं । वे मूलत: सन्तुलित प्रभाव के पक्षपाती हैं इसलिये उन्होंने लिखा है कि "हम व्यर्थ के इस झगड़े में न पड़ जायं कि कोई चीज कहां तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है । चीज अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार्य है,आध्यात्मिक हो या न हो ग्राह्य है "।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी पश्चिम की बात ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच या लज्जा का अनुभव नहीं करते । उनका विचार है कि इसमें मान अपमान की कोई बात नहीं है । परन्तु वे अन्धानुकरण को मानसिक दरिद्रता और दासता का परिचायक मानते हैं । उनकी धारणा है कि हमें भ्रम से बचना चाहिए ।

आचार्य द्विवेदी जी का   ज्ञान अत्यन्त विशद है । उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में आत्मपूर्ण कदम उठाकर इतिहास, धर्म, विज्ञान,पुराण विज्ञान, प्राच्य विद्या, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, प्रजनन शास्त्र, नृतत्व शास्त्र, पुरातत्व विज्ञान, भौतिकशास्त्र, कानून, राजनीति शास्त्र आदि से भरपूर लाभ उठाया है ।

द्विवेदी जी की रचनाओं में   व्याप्ति का विश्लेषण एवं बोध का अपूर्व परिचय मिलता है । वे डारविन की क्रान्तिकारी और स्थापनाओं तथा फ्रेजर, मार्क्स आदि विचारकों के विचारों से पूर्णत: अवगत हैं । उन्होंने हिन्दी   की भूमिका नामक ग्रन्थ में वर्णों के लिये वी० स्मिथ, विन्टरनित्ज, मैक्समूलर आदि

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २२०

पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली है[१]।

द्विवेदी जी पाश्चात्य और भारतीयता में मुख्य रूप से सन्तुलन के पक्षपाती हैं। इस सन्तुलन से वे जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, उसको उन्हीं के शब्दों में अभिव्यक्त करते हुये हम कह सकते हैं जो मनुष्य मनुष्य को उसकी सहज वासनाओं और अद्भुत कल्पनाओं के राज्य से वंचित करके उसे सुखी बनाने के सपने देखता है, वह ठूंठ तर्कपरायण कठमुल्ला हो सकता है। आधुनिक बिल्कुल नहीं। वह मनुष्य को समूचे परिवेश से विच्छिन्न करके हाड़-मांस का यन्त्र बनाना चाहता है।..... परम्परा मनुष्य को उसके परिपूर्ण रूप से समझने में सहायता करती है आधुनिकता उसके बिना सम्भव नहीं है, परम्परा आधुनिकता को आधार देती है। उसे शुष्क और नीरस बुद्धि विलास बनने से बचाती है। उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत और निरंकुश उन्माद से बचाती है। ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं।[२]

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में   प्रभाव के उपरोक्त विवरण के आधार में द्विवेदी जी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम की विस्तृत रूप में चर्चा की है। द्विवेदी जी की रचनाओं में   यथार्थ है। यद्यपि उन्होंने अपने उपन्यासों को गप्प की संज्ञा दी है। तथापि उनमें ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति पूरी निष्ठा देखने को मिलती है। उनके उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनायें गौण हैं। उन्होंने   के तथ्यों को लेकर उन पर अपनी कल्पना-शक्ति का खुब रंग चढ़ाया है। इनमें उनका उद्देश्य   का प्रस्तुतीकरण करना नहीं है। वरन् उन्होंने   यथार्थ की वैज्ञानिक व्याख्या और विश्लेषण कल्पना शक्ति के आधार पर की है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपनी बहुमुखी   प्रतिभा को   के संदर्भ

१- हिन्दी आलोचना पर प्रभाव : सत्यदेव मिश्र, पृष्ठ ३८२

२- ह० प्र०   ग्रन्था०, खण्ड ६,   और आधुनिकता, पृष्ठ ३६३

तथ्यों को प्रदर्शित किया है । इतिहास लेखन में तथ्यों का क्रमानुसार वर्णन किया जाता है और अपनी ओर से कुछ जोड़ने-घटाने का प्रश्न नहीं उठता । किन्तु साहित्यकार जब इतिहास का बखान करता है तो वह अपनी बात को तथ्य से अलग ले जाने को स्वतन्त्र होता है । द्विवेदी जी में इन दोनों प्रवृत्तियों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । एक ओर वह अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पना के पंख लगाकर उड़ते हैं तो दूसरी ओर "   संघर्ष का इतिहास " नामक निबन्ध में वे एक सच्चे इतिहासकार के रूप में घटनाओं का तथ्यपूर्ण और क्रमानुसार वर्णन करते हैं ।

स्वाधीनता संग्राम :-

संग्राम को आधुनिक भारतीय संस्कृति के विकास में विशेष महत्व प्राप्त है । अत: द्विवेदी जी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण और उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इस विषय में थोड़ा विचार कर लेना उपयुक्त होगा । 'भारत के   संघर्ष का   काफी लम्बा और पेचीदा है । अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दुस्तान इस अर्थ में स्वतन्त्र था कि उसके किसी भाग पर किसी बाहरी शक्ति का आधिपत्य नहीं था ।[1] निश्चय ही अभी तक जितनी भी जातियां बाहर से आयी थीं वे यहीं की बन कर रह रही थीं । 'अहमद शाह अब्दाली के हमलों ने हिन्दू और   दोनों को बुरी तरह सताया । जनता की सुनने वाला कोई नहीं था....... गद्दी के दावेदार हर प्रकार का जुल्म और छल करने को तैयार रहते थे और अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये अपनी जाति, धर्म और परिवार के लोगों से   लेने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी[2] । इस वक्तव्य द्वारा द्विवेदी जी ने अब तक के इतिहास को अत्यन्त

१- ह० प्र०   ग्रन्थावली, खण्ड १०, 'स्वतंत्रता संघर्ष का   ,पृ०३६५

२- वही   , खण्ड १०, पृष्ठ ३६५

सार संक्षेप में स्पष्ट कर दिया और फिर आगे के इतिहास को पक्षपात-रहित रूप में प्रस्तुत किया । उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में उन्होंने जो अर्थपूर्ण बातें कहीं हैं वे इतिहास की आत्मा को अभिव्यक्त करती हैं । अंग्रेजों का भारत में साम्राज्य स्थापित होने के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने एक सच्चे इतिहास वेत्ता की भांति लिखा है । इसमें अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा उनके राजनयिक कौशल तथा ब्रिटिश सैन्य बल का योगदान अवश्य था । पर भारतीय सरदारों और राजाओं की आपसी सामन्तशाही कलह ही देश की पराजय का मूल कारण थी[1] । द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि सन् १८५७ के विप्लव में इसी कारण से पराजय मिली और उसके बाद अंग्रेज हुकूमत परस्त जमींदार और सामन्तवर्ग ब्रिटिश हितों की वृद्धि करते हुए जनता का शोषण करते रहे । इस विषम परिस्थिति में मध्यमवर्गीय शिक्षितों को नेतृत्व का भार वहन करना पड़ा और १८८५ ई० में आलइण्डिया कांग्रेस ने एक रूप धारण कर लिया । द्विवेदी जी ने कांग्रेस के गठन, उसके उद्देश्यों, कांग्रेस के विभाजन, नरम तथा गरम दल के राष्ट्रवादियों की गतिविधियों, अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का भारत पर प्रभाव, अंग्रेजों के सुधार तथा दमन नीति, विश्व युद्ध के सन्दर्भ में भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, भारत में साम्प्रदायिकता के प्रसार और अनेक देश भक्त भारतीयों के बलिदान एवं संघर्ष का उल्लेख करते हुए १५ अगस्त १९४७ तक के इतिहास और भारत के विभाजन की जो चर्चा की है उससे इस काल की भारतीय संस्कृति के रूप स्वरूप का सम्पूर्ण बोध होता है ।[2] इस तरह विभाजन साम्प्रदायिक समस्या का करने में विफल हुआ, समस्या ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया ।[3]

१- ह० प्र० द्वि० ग्रन्थावली, खण्ड १०, पृष्ठ ३१६

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३१६

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३१६

वर्तमान संस्कृति के प्रति द्विवेदी जी का स्वर आशंकाओं और दुविधाओं से परिपूर्ण है । '२६ जनवरी आयी और चली गयी........ संविधान में हम जाति भेद को समूल नष्ट करने का संकल्प ले चुके हैं, परन्तु उस संकल्प का आरम्भिक परिणाम उल्टा हुआ है ...... अग्नि शिखा के पहले धुआं उठा करता है..... आगे चलकर आर्थिक, सामाजिक हितों के आगे यह अधिक देर तक टिक नहीं सकेगी[1]। आगे द्विवेदी जी स्पष्ट कहते हैं कि 'लगता है उपरले स्तर के लोग भटक गये हैं । साहित्य के क्षेत्र में भी और जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी....... मैं सोचता हूं कि आर्थिक कार्यक्रम के साथ मानसिक और आध्यात्मिक आत्म नियन्त्रण का वातावरण भी तैयार करना बहुत जरूरी है, जब तक ऐसा वातावरण नहीं बनता तब तक यह खतरा बना रहेगा, कि हम फिर भटक सकते हैं । सारे देश में आत्म-विश्वास, आत्म संयम, आन्तरिक सौहार्द का वातावरण बनना चाहिए । इसके बिना देश के स्वाभिमान की रक्षा खतरे में रहेगी ।'[2]

द्विवेदी जी की सांस्कृतिक चेतना इतनी प्रबल है कि उसमें भारतीय संस्कृति का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है । राजा राममोहन राय के विषय में चर्चा करते हुये तत्काल प्रचलित अनेक प्रकार की सामाजिक विसंगतियों के उन्मूलन का उल्लेख किया है और स्वाधीन भारत में ऐसे कानून बनाने की   की है जो समाज को उसकी कुरीतियों से मुक्त करे । इस विषय में द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों में व्यापक रूप से चर्चा की है 'पिछले दिनों भारतीय   की संसद ने कुछ ऐसे कानून बनाये हैं जो आगे चलकर इस भेदभाव को   समाप्त कर देंगे........ पहली बार हिन्दुओं की सभी शाखा ... प्रशाखाओं को.....   , आर्य समाज, वीर, शैव, लिंगायत, बौद्ध और जैन को भी...... . ये कानून एक प्रकार के

1- ह० प्र० ग्रन्था० खंड १०, पृष्ठ ३३६

2- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३३८

नियमों में बांधते हैं..... परिणाम अभी स्पष्ट रूप से नहीं आ रहे हैं, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा त्यों-त्यों ये कानून समाज को तेजी से परिवर्तित करेंगे । अच्छा होगा या बुरा यह बहस का विषय हो सकता है पर परिवर्तन होगा, यह निश्चित है ।[1] भविष्य के प्रति आशान्वित होते हुये द्विवेदी जी ने यह कहा है, "जाति से बहिष्कृत होने का अब भय नहीं रहेगा, दहेज आदि की कुरीतियां शिथिल होंगी, स्त्रियां अधिक शक्ति का अनुभव करेंगी, छोटी जाति नाम की चीज क्रमशः समाप्त हो जायेगी और जातिगत मताधिकार से उठा हुआ धुआं शान्त होने को बाध्य होगा ।"[2]

आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में जितनी भी बातें कही हैं उनका सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनके मन में संस्कृति के प्रति अनेक आशायें, निराशायें, सहमति,असहमति, उत्साह और आक्रोश है । संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले सभी सन्दर्भों में द्विवेदी जी ने एक बड़ी सारगर्भित बात कही है । वे कहते हैं भारतवर्ष क्या है ? हमें इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए । भारतीय संस्कृति में आचार्य द्विवेदी भावी गतिविधियों के प्रति, जो सच्चाई को निर्भीकतापूर्वक कह सकने की क्षमता रखते हैं । कृत्रिम, निश्छल, सात्विक अपार संवेदनशील, उदात्त तथा ओजस्वी लेखन कला के धनी द्विवेदी जी ही संस्कृति के विकास के विषय में निश्छलतापूर्वक सभी कुछ कह पाये हैं । संस्कृति के धरातल पर आचार्य जी के चिन्तन का सार तत्व यह है कि मनुष्य पर केन्द्रित उनकी संस्कृति संबंधी अवधारणा देशों की सीमा का अतिक्रमण करते हुये विश्व मानवता को अपनी परिधि में समेटती है । संस्कृति और उसके निर्माण में रत मनुष्य की अनादि काल से चली आ रही के साक्षी आचार्य द्विवेदी का यह विश्वास है कि मनुष्य सत्य से बढ़कर कोई चीज नहीं है ।

जी के सांस्कृतिक विकास-क्रम के उपरोक्त अध्ययन का

१- ह० प्र० ग्रन्था, खण्ड १०, पृष्ठ ३६२

समापन हम उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं - "वैदिक युग से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है ।"[१]

-०-

१- ह० ग्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २१७

तृतीय अध्याय

सामाजिक आदर्श

जब मनुष्य अनुभूति और जीने की अविकार वांछा को कर्म श्रृंखला के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करता है, तो इस क्रम में वह आदर्शों की स्थापना करता है । आदर्श का आधार मानवीय संवेदनाएं होती हैं, जिसको पाने के लिये मनुष्य चेष्टा करता है जिसके लिये वह जीवित रहता है और जिसके लिये वह बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है । ऐसे तत्व मानव जीवन के आदर्श होते हैं । आदर्श विहीन जीवन पशुवत होता है क्योंकि उसमें केवल इच्छापूर्ति की भावना होती है । आदर्शयुक्त जीवन   ात्कार और आत्म विकास की ओर ले जाता है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अधिकांश का वर्ण्य विषय देश और काल की दृष्टि से और साथ ही प्रबन्धों के चरित नायकों की गरिमा की दृष्टि से मानव जीवन के आदर्शों का निर्धारण करता हुआ प्रतीत होता है । संस्कृति के आदिकाल से ही महामानवों - देवता, ऋषि, असुर आदि से सम्बद्ध अनन्त घटनाओं का अंकन वेद और पुराण आदि के माध्यम से मानव जीवन के आदर्शों की प्रतिष्ठापना और खोज करने में संलग्न रहा । भारतीय काव्य की एक रीति ही थी कि सज्जनों के जीवन चरित द्वारा उन आदर्शों की स्थापना की जाय जिससे उनके द्वारा लोक रंजन हो[1] । महाभारत में कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, भीष्म, कर्ण आदि की प्रमुख रूप से और गौण रूप से अगणित ऋषियों और मुनियों की चरित गाथा मिलती है,इन सबके व्यक्तित्व के माध्यम से पाठकों के लिए आदर्शों की   की गयी है । परवर्ती युग में गौतम बुद्ध का उदात्त चरित्र अश्वघोष के दो महाकाव्यों का वर्ण्य-विषय बना । यह क्रम निरन्तर चलता रहा । वस्तुत: भारतीय साहित्य में - विशेषकर काव्य -   से ही साहित्यकारों का जो

१- लोक रंजन संयुक्त   विहितं युग- ।
   कुरु धर्मार्थ निरतं सतां चरित मुत्तमम् ।।

दृष्टिकोण रहा है उसको संघटनात्मक कहा जा सकता है । बराबर में उनको जो कुछ सर्जनात्मक और कल्याणावह प्रतीत हुआ, वही उनके लिये प्रशस्य था। उन्होंने मानव जीवन के आदर्शों का निर्धारण करने के क्रम में धर्म के संरक्षण को ही दिव्य कर्म माना । जो कर्तव्य देवताओं के सम्मत हुये, वे ही मानवों के लिये भी समीचीन माने गये । यह धारणा व्याप्त थी कि ऐसा कर्तव्य-पथ अपना लेने पर मानव का व्यक्तित्व दिव्य बन जाता है । ऐसा व्यक्तित्व विकसित कर लेने पर मानव सारे समाज का आदर्श बन जाता था । उसके द्वारा समष्टि की सेवा सम्भव होती थी --

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

कर्मण्यता को जीवन की क्षमता का निदर्शक माना गया । ऐसा पुरुष ही कर्मरत रहते हुये सौ वर्षों की सार्थकता का अनुभव कर सकता था।[1] आरम्भिक युग से ही शिष्टाचार के उदात्त भाव साहित्य में खूब प्रतिष्ठित किये गये । अपने मन को मुक्त पाने के लिये मानव को आदर्शों की ओर प्रवृत्त करने का उत्तरदायित्व भारत के साहित्यकारों ने बखूबी निभाया ।

(क) मानव जीवन का आदर्श

द्विवेदी जी मानते हैं कि जीवन धारण करना ही मानव जीवन की न तो चरितार्थता है और न ही आदर्श । जीवन धारण करके तो मानव प्रलोभनों में आबद्ध होता है । वस्तुतः प्रलोभनों के वृत्त से बाहर निकलकर पाशव स्तर से ऊपर उठना ही मनुष्य का पहला आदर्श है । प्रलोभन पूर्ति का स्तर पाशव स्तर है और इस पाशव स्तर से ऊपर उठने से ही मनुष्यता

१- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।।
- ईश० २७

का आरम्भ होता है। जहां व्यक्तिगत स्वार्थ समाप्त होता है वहीं से मनुष्यता प्रारम्भ होती है। मनुष्यता की प्राप्ति करके जीवन की चरितार्थता को सार्थकता देना मानव जीवन का आदर्श है। `है` की अपेक्षा `चाहिए` की ओर जितनी भी प्रगति होती है वह आदर्श प्राप्ति की ओर ले जाती है। संकीर्णता को लेकर तादात्म्य की ओर बढ़ना मानव का चरम आदर्श है। द्विवेदी जी की मान्यता है कि मनुष्य ने तादात्म्यता की प्राप्ति के लिये पहले जो प्रयास किये थे वे व्यक्तिगत साधना से किये गये थे। परन्तु आज मानव जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने के लिये समूचे समाज का प्रयत्न सामूहिक रूप से होना चाहिए। इसी से मानव का जीवन रूप में उच्छलित होगा[1]। मनुष्य ही वह बड़ी चीज़ है, जिसके लिये हम सब कुछ किया करते हैं। हमारे सारे प्रयासों का लक्ष्य यही है कि मानव जीवन के आदर्शों की प्राप्ति हो[2]। द्विवेदी जी ने बार-बार कहा है कि प्रेम, भक्ति और सौन्दर्य मनुष्य जीवन का आदर्श है[3]। द्विवेदी जी ने आदर्शवाद में विश्वास रखते हुये पुरानी रूढ़ियों को मानव जीवन के लिये आदर्श रूप में स्वीकार नहीं किया। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पुरानी रूढ़ियों से उनका तात्पर्य प्राचीन भारतीय संस्कृति की   किया जाना है। संयम और निष्ठा को वे पुरानी रूढ़ियों के रूप में भी आदर्श मानते हैं। संयम और निष्ठा से तपस्या के बल पर भारतीय संस्कृति ने आदिम पर विजय पायी थी[4]। संयम और निष्ठापूर्ण आचरण, ब्रह्मचर्य, वाक् संयम, शारीरिक व मानसिक   , ज्ञान की प्रतिष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांस का बहिष्कार आदि को द्विवेदी जी

१- ह० प्र० द्वि० ग्रन्था० खण्ड ७, पृष्ठ १२७

२- वही ,, खण्ड १०, पृष्ठ २७६

३- वही ,, खण्ड ७, पृष्ठ १२७

४- वही ,, खण्ड , पृष्ठ

ने नैतिक जीवन का गुण माना है । जिस बात के कहने और करने से मनुष्य-पशु सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता, उसे वे त्याज्य मानते हैं[१] । इसीलिये उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि मरे हुये बच्चे को पेट से चिपकाये रहने वाली 'बंदरिया' हमारा आदर्श नहीं बन सकती[२] । वस्तुत: उनका तात्पर्य है कि मनुष्य में मनुष्यता का विकास हो, इसी का प्रयत्न किया जाना चाहिए और भारतीय संस्कृति में जो आदर्श निर्धारित किये गये हैं उनकी प्राप्ति में मानव को संलग्न रखना चाहिए । द्विवेदी जी ने कई स्थानों पर कहा है कि स्वार्थ के लिये लड़ पड़ना पशु और मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है पर दूसरों के लिये अपने को उत्सर्ग कर देना, स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों की सुविधा का ख्याल रखना मनुष्य की अपनी विशेषता है और यही मनुष्य की मनुष्यता है[३] । मनुष्यता को निर्दिष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने मनुष्य को ही वास्तविक लक्ष्य माना है । मनुष्य का स्वरूप क्या है ? बाह्य रूप से धर्म आचारपरम्परा वैशिष्ट्य वर्ण, मनोविज्ञान आदि भेदों के होते हुये भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य का मन सर्वत्र एक है[४] । दूसरों के साथ [illegible] या स्पन्दन की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है ।... मनुष्य का श्रेष्ठ रूप का प्रकट होना उसका स्वाभाविक धर्म है[५] ।

अपने मानवतावादी, आदर्शवादी एवं नैतिकतावादी विचारों के प्रतिपादन में द्विवेदी जी ने मनुष्य को ही मुख्य विषय बताया है और मनुष्य बनना ही समस्त प्रयत्नों का उद्देश्य निर्धारित किया है । उन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'अब उसके जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य परलोक में सुखी होना नहीं है । बल्कि

१- ह० प्र० द्वि० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३१

२- वही ,, , खण्ड ६, पृष्ठ १०८

३- वही ,, , खण्ड ७, पृष्ठ १९२

४- वही ,, , खण्ड ६, पृष्ठ २१९

५- वही ,, , खण्ड ७, पृष्ठ १९३

इसी लोक में इसी मर्त्यकाया के भीतर समूची मनुष्य जाति को नाना प्रकार के अभावों से मुक्त करके सुखी और सुसंस्कृत बनाना है[1] ।

(ख) मनुष्य के सामाजिक जीवन का आदर्श

समाज व्यक्तियों से बनता है । प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिये कितना त्याग करता है, कितने संयम से काम लेता है, कितना उपकार करता है, आदि बातों से समाज की दृढ़ता और उच्चता का ज्ञान होता है । समाज में उपर्युक्त सत्प्रवृत्तियों के मूल आदर्श को हैं । वैदिक ऋषियों के सामने समाज का आदर्श परोपकार और सुकृत था । ऋग्वेद में आदर्श नागरिक के विचार इस प्रकार मिलते हैं -- "हे इन्द्र मुझको श्रेष्ठ धन और दक्षतापूर्ण चेतनता प्रदान करो । सौभाग्यशाली बनाओ । शरीर को स्वस्थ बनाओ, वाणी को मधुर बनाओ । मेरे दिनों को अच्छा बनाओ ।"[2] अथर्ववेद में समाज को सुव्यवस्थित रखने की कामना करते हुये कहा गया है, "जिन्हें मैं देखता हूं या जिन्हें नहीं देखता हूं, उन सबके प्रति मुझमें सम्मति उत्पन्न करो ।"[3] शतपथ ब्राह्मण में समाज की कल्पना राष्ट्र के लिये की गयी है और कहा गया है, 'श्रीर्वै राष्ट्रं' अर्थात् श्री (लक्ष्मी) से ही राष्ट्र है[4] । नागरिक की यह उक्ति उसको कर्मण्य बनाने के लिये थी । महाभारत में

आदर्श के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ त्याग की बात करते हुए कहा गया है, "तुम्हारे लिये यदि किसी ने कुछ किया तो उससे बढ़कर तुम उसके लिये करो[5] । सभी प्राणियों के लिये बांट कर खाओ[6] । परिश्रम से ही धन

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड ६, पृष्ठ ३८१

२- ऋग्वेद - २-२१-६

३- - १७-१-७

४- शतपथ ब्राह्मण - ५-७-३-७

५- १९६ -१४

६- वनपर्व - २- ५३

कमाओ, अन्याय के पैसे का दान, धर्म सब व्यर्थ है[1]। सभी प्राणियों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो, जैसा अपने लिये चाहते हो[2]।

अशोक ने मनुष्य के सामाजिक आदर्श को प्रस्तुत करते हुये कहा- मैं सर्वत्र लोगों का हित करूंगा, मुझे सभी लोगों का हित करना चाहिए, सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं, धर्म का आचरण इसी में है कि दान, दया, सत्य, शौच, मौद, साधुता बढ़े[3]। मनु ने मनुष्य के सामाजिक जीवन के आदर्श को निर्धारित करते हुये कहा है कि 'गृहस्थ विद्यार्थी, गृहस्थ और साधु-संन्यासी सबका पोषण करें। जिसको कुछ नहीं मिलता, सबको अपने में और सबमें अपने को देखो यही मोदा मार्ग है[4]। पंचतन्त्र में सामाजिक आदर्श का मूल मन्त्र बताते हुए कहा गया है कि 'अकेले स्वादिष्ट वस्तु न खायें, सोये हुये लोगों के बीच अकेला न जागे, अकेले मार्ग न चले और आवश्यक कर्तव्यों पर अकेले विचार न करें[5]। कालिदास के अनुसार सामाजिक आदर्श है कि --

अनुद्धता: सत्पुरुषा: समृद्धिभि:
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।[6]

इस प्रकार प्राचीन भारत में मनुष्य के सामाजिक जीवन का आदर्श के निर्धारण करने की दृष्टि से जो परिभाषा बनाई गई, उसका मूल यही है, कि वही सबसे बढ़कर है, जो समाज के लिए अधिक से अधिक देता है।

१- वनपर्व २५९-३३

२- शान्तिपर्व १६७-६

३- अशोक के

४- मनुस्मृति ३-७८ : ४-१७०, १२-१२५

५- पंचतन्त्र ५-६५

६- अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५-१२

इस आदर्श के महासागर में अवगाहन करने वाला व्यक्ति और समाज स्वभावतः अपने परमलक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा । संस्कृति का प्राण उसके समस्त विकास के मूल में स्थित वह दृष्टि है, जो मनुष्य को सामाजिकता के साथ संयुक्त करके परमार्थ मूल और उसकी प्राप्ति के साधनों का समष्टि रूप में निर्देश करती है । किसी भी समाज की एकता उसके पारमार्थिक आदर्शों की एकता होती है । द्विवेदी जी के विचार से व्यक्ति की चरित्र की उन्नति करके सामाजिक रूप से उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए । इस सन्दर्भ में उन्होंने भारतीय समाज की एक प्रमुख कमजोरी की ओर संकेत किया है और कहा है कि भारतीयों की व्यक्तिगत साधना तो ऊंची रही है, परन्तु सामाजिक उन्नयन के प्रयत्नों में वे सफल नहीं हो सके । उनका विचार है कि हमें आज के युग की आवश्यकतानुसार समाज और व्यक्ति की सांस्कृतिक एकता को आधार बनाकर सामाजिक कल्याण की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। उन्होंने मनुष्य को पारस्परिक वैमनस्य और सामाजिक विरोधों को दूर करके सुन्दर और असुन्दर तथा समान और असमान में एकरूपता लाकर सौन्दर्यवादी सामंजस्यवादी भारतीय दृष्टि को प्रधानता दी । मनुष्य के सामाजिक जीवन के आदर्श का निर्धारण करते हुए उन्होंने इस बात की चेतावनी भी दी है कि पुराने आचारों से चिपके रहने से कोई लाभ नहीं है । इसीलिए उन्होंने लिखा है कि मरे हुये बच्चे को गोद में चिपकाये रहने वाली बंदरिया हमारा आदर्श नहीं बन सकती ।

(ग) व्यक्ति और समाज

संस्कृति के दो पक्ष होते हैं - प्रथम तो वह जिसका सम्बन्ध व्यक्ति से होता है, दूसरा वह जिसका सम्बन्ध समाज से होता है । यद्यपि इन दोनों पक्षों की पृथक्-पृथक् सीमाएं नहीं हैं और न ही वे एक दूसरे से अछूते हैं, फिर भी इन दोनों का क्षेत्र स्पष्ट ही अलग है । संस्कृति की

योजनाएं फलीभूत होती है । इस साधना के लिये साधक प्राय: कोई व्यक्ति विशेष होता है और उसी को अपनी साधना का फल विशेष रूप से मिलता है । इसके विपरीत सामाजिक संस्कृति में पूरे समाज की उन प्रवृत्तियों का पर्यालोचन होता है जिन्हें वह समाज अपने को संगठित करने के लिये अथवा अपने को सुरक्षित रखने एवं समृद्ध बनाने के लिये अपनाता है । इसके पीछे समाज की सामूहिक विचारधारा उसका तप और त्याग सन्निहित होते हैं । द्विवेदी जी की मान्यता है कि - "मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कार-जन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं, तब उसमें मनुष्य की विराट् एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है । फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर मनुष्य मात्र की सम्पत्ति हो जाता है ।"[१] व्यक्ति के सम्बन्ध में द्विवेदी जी मनुष्य की जिजीविषा दुर्दम्य प्राप्ति और दुर्दमनीय आकांक्षा की बात बार-बार दोहराते हैं । "मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है, वह संस्कृति और सभ्यता के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है । वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है ।"[२] उनके इस विचार से भारतीय संस्कृति की अजेय शक्ति का संकेत तो मिलता ही है, साथ ही इसमें व्यक्ति और समाज के बीच तारतम्यता का संकेत भी मिलता है । व्यक्ति के लिये जो व्यक्तित्व है, वही समाज के लिये संस्कृति । दोनों का सार है आदर्शों और मूल्यों की भावना । समाज व्यक्ति को ऐसा सामाजिक, ऐतिहासिक संस्कार प्रदान करता है, जो अपनी प्रभावों की रश्मियों से उसके व्यक्तित्व को अभि-संस्कृत और विनीत करता है । समाज व्यक्ति की मूलभूत निष्ठाओं से प्रादुर्भूत होता है और उसमें चरित्र अथवा व्यक्तित्व का एक विशिष्ट आदर्श

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ १२८

२- वही , खण्ड ९, पृष्ठ २३

लक्षित होता है । व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध जोड़ते हुये द्विवेदी जी ने शब्द और अर्थ की बात कही है । शब्द और अर्थ को वे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का प्रतीक मानते हैं । उनका समस्त साहित्य व्यक्ति के सामाजिक रूप की व्याख्या करता प्रतीत होता है । द्विवेदी जी उसे सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना मानते हैं ।

यूं तो द्विवेदी जी एक रचनात्मक साहित्य स्रष्टा हैं परन्तु मूलत: वे एक सांस्कृतिक चिन्तक हैं । उनकी दृष्टि में मनुष्य ही सब कुछ है । उनकी कल्पना का मनुष्य जाति, वर्ण, धर्म, निर्विशेष मनुष्य है, जो केवल मनुष्य होने के नाते महान है । उनका विश्वास है कि साहित्य मनुष्य तथा उसके समाज को रोग, शोक, दु:ख, संताप, दारिद्र्य, अज्ञान, परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है । इस दृष्टि से साहित्य निश्चय ही अक्षय निधि है[1] । वे साहित्य को समाज अथवा सामान्य जन के जीवन से अलग नहीं मानते । समाज के जीवन केन्द्र में मनुष्य को प्रतिष्ठित करते हुये उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है । द्विवेदी जी ने अपनी समस्त रचनाओं में जिस मनुष्य की कल्पना की है, वह वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय राष्ट्र आदि की सीमाओं में विभाजित एवं विभक्त मनुष्य नहीं है । उन्होंने सहज भाव से लिखा है, 'समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर करने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए । संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मति वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है । इसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है ।[2] उनके लेखन में मनुष्य मानव संस्कृति और मनुष्य

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ २५

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १०१

की संस्कृति में भारतीय संस्कृति का विशिष्ट स्थान है । साथ ही उनके लेखन में मनुष्य के निरूपण में मनुष्य पशु भी है, इस मत की उपेक्षा है और मनुष्य पशु नहीं है इसकी अपेक्षा है । द्विवेदी जी ने भारतीय साहित्य का मंथन करते हुए भारतीय इतिहास और संस्कृति का दोहन किया है, रवीन्द्रनाथ टैगोर के साहित्य को आत्मसात कर लिया है और कालिदास के साहित्य से रसपान किया है, आदिकालीन तथा मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अनुशीलन किया है और तब भारतीय समाज के विभिन्न रूपों का वास्तविक और व्यावहारिक निरूपण किया है । यथा वे समाज को साहित्य से अलग मानकर नहीं चलते । द्विवेदी जी का विश्वास है कि 'साहित्य श्रेष्ठ समाज की स्थापना का एक साधन है ।'[१]

द्विवेदी जी ने विभिन्न कालों में आकर घुलमिल जाने वाली विभिन्न जातियों और उनकी परम्पराओं, रीति-नीति आदि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है और अनेक प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण करने का सफल प्रयास किया है । कबीर नाथ सम्प्रदाय, मध्यकालीन धर्मसाधना और प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद आदि रचनाओं में उनकी समाजशास्त्रीय विश्लेषण पद्धति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है । संत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुये द्विवेदी जी ने सामाजिक विषयों जैसे - जाति भेद की कठोरता, उसकी प्रतिक्रिया, अस्पृश्यास्पृश्य विचार अन्तर्जातीय विवाह, वर्तमान जन समूह आदि की खूब चर्चा की है । इससे मध्ययुग के समाज का स्पष्ट परिचय मिलता है । भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, अशोक के फूल, प्रायश्चित की घड़ी, भारतीय संस्कृति की देन आदि निबन्धों में आधुनिक समाज के प्रति उनकी चिन्ता और प्रगतिशील विचार की झांकी मिलती है । वे चेतावनी देते हुए कहते हैं - जन-जागृति जिस दिन सम्मुख होगी उस दिन ऊंची मर्यादा वाले उनका उद्धार नहीं करेंगे । वे स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे । यह एक अपूर्व

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड , पृष्ठ ५८५

समय होगा जब शताब्दियों से पददलित निर्वाक्, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फुत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार मांगेगी । उस दिन हमारी सभी कल्पनायें न जाने क्या रूप धारण करेंगी, जिन्हें हम भारतीय सभ्यता हिन्दू संस्कृति आदि अस्पष्ट भुलाने वाले शब्दों से प्रकट किया करते हैं । मैं हैरानी के साथ सोचता हूं कि क्या हममें उस महान् ऐतिहासिक घटना सहने का साहस है ?[1] समाज और संस्कृति के सवाल पर द्विवेदी जी के चिन्तन का यही सार तत्व है ।

(ब)- वर्णाश्रम व्यवस्था

जबकि   जगत में धर्म और राज्य के बीच प्राय: संघर्ष होता रहा है, प्राचीन भारत में ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया, जिनके आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियां समान रूप से सुलभ हो सकें । वर्ण व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों में से एक थी । सामान्य तौर पर वर्णाश्रम व्यवस्था से यह समझा जाता है कि इसके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का वर्गीकरण किया गया था । किसी सीमा तक ऐसा समझना उचित ही है । परन्तु सैद्धान्तिक रूप में यह व्यवस्था भारतीय समाज की आधार शिला थी । कार्य   की दृष्टि से भारतीय समाज को चार आश्रमों में बांटा गया । श्रीमद्भगवद्गीता में वर्ण-व्यवस्था को गुण कर्म के आधार पर माना गया - `चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश: ।`[2]

समाज को एक जीवित संस्थान या शरीर मानकर `
सम्बन्ध से भगवान के विराट् स्वरूप में चारों वर्णों को स्थान दिया गया है । इन वर्णों की उत्पत्ति उनके कर्म और गुण, धर्म के अनुकूल शरीर के उन अंगों

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ८, पृष्ठ ४४६ .

२- गीता ४। १३

वाले अवयवों से उत्पत्ति मानी है । पुरुषसूक्त में लिखा है --

> `ब्राह्मणो स्य मुखमासीद बाहू राजन्यकृत: ।
> उरूतदस्य यद्वैश्यपदम्यां शूद्रो अजायत ॥`[१]

अर्थात् इस विराट् स्वरूप परमात्मा के ब्राह्मण मुखरूप है, बाहुओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई, जंघाओं से वैश्यों की, शूद्र लोग विराट् रूप भगवान के चरणों से बने । मनुस्मृति में भी इसी विराट् रूप से वर्णों की उत्पत्ति पुरुषसूक्त के क्रम से ही मानी गयी है । उसमें बताया गया है कि यह उत्पत्ति संसार की विशेष वृद्धि या कल्याण के लिये हुई थी । विराट् के अंग रूप होने के कारण सभी वर्णों का अपना-अपना महत्व था । शूद्रों और अन्त्यजों का भी कम महत्व न था । मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह को समान रूप से चातुर्वर्ण्य के लिये माना है[२] । कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक कविता में लिखा है ; कि भगवान के चरण रूप होने के कारण शूद्र वन्द्य हैं, क्योंकि प्राय: लोग चरणों की ही वन्दना करते हैं । कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने तो उन्हें सुरसरि का सहोदर कहा है । क्योंकि गंगा जी भी विष्णुपद से निःसृता कही जाती हैं । `उत्पन्न हो तुम प्रभु पदों से, जो सभी को ध्येय है, तुम हो सहोदर सुरसरि के चरित्र जिसके गेय हैं ।' वर्णाश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में मुख्य रूप से पांच प्रचलित हैं -- (१) दैवी सिद्धान्त, (२) गुण का ,
(३) वर्ण अथवा रंग का , (४) कर्म का , (५) जन्म सिद्धान्त । इन प्रचलित सिद्धान्तों में वर्णाश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल अनुमान ही लगाया जाता है । द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध `समाज संस्कार पर विचार' में जाति-भेद के सन्दर्भ में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में और वर्ण- से जाति-पांति का क्या सम्बन्ध है ?

१- ऋग्वेद संहिता - १० ।१२
२- मनुस्मृति - १० । ६३

इसके विषय में उन्होंने विपुल साहित्यिक स्रोतों का मंथन करते हुये यह धारणा सुनिश्चित की है कि वर्णों की उत्पत्ति वस्तुत: कर्म के सिद्धान्त पर हुई, 'इसीलिये मैं प्राय: कहा करता हूं कि मैं शूद्र जाति का ब्राह्मण हूं जो कोई भी लिखता पढ़ता है वह कर्मणा ब्राह्मण है, लेकिन ब्राह्मण भी चार प्रकार के हैं -- (१) वे जो अपनी योजना के अनुसार लिखते पढ़ते हैं, इनको मैं 'ब्राह्मण' - ब्राह्मण कहता हूं। (२) वे जो 'युद्ध देहि' का बाना धारण किये हुए कलम ताने रहते हैं, इनको मैं 'क्षत्रिय' - ब्राह्मण कहता हूं। (३) वे जो अर्थोपार्जन के लिये कलम की भांति इस्तेमाल करते हैं, इनको मैं 'वैश्य' - ब्राह्मण कहता हूं। (४) वे जो किसी दूसरे के इशारे से विनियुक्त होकर कलम घसीटते हैं, इन्हीं भाग्यवंचितों को मैं 'शूद्र'-ब्राह्मण कहता हूं। मैं इसी श्रेणी का हूं।'[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म मानते हैं। पुनश्च उन्होंने बारम्बार वैदिक धर्म को कर्म प्रधान धर्म कहा है। 'कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य प्रधान आध्यात्मवादी आर्येतरों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी कुशलता के साथ मानव जीवन को चार आश्रम में बांटकर समन्वय कर लिया।'[2] वस्तुत: कर्मगत वर्णाश्रम व्यवस्था और कर्मप्रधान वैदिक धर्म सामाजिक जीवन को इसी धारणा के अनुसार संयुक्त करते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म और समाज दोनों ही कर्म प्रधान है।

वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में द्विवेदी जी के विचारों का सम्यक् अध्ययन यह प्रमाणित करता है, कि वे वर्णाश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति कर्म के सिद्धान्त से मानते हैं। 'जो (चातुर्वर्ण्य) निश्चय ही 'गुण कर्म विभागश:' रचित हुई थी अपने विशुद्ध रूप में एक आदर्श व्यवस्था है'।[3] शास्त्र भी इस विचार के साक्षी हैं। मनु का कथन है, 'किसी व्यक्ति

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ११८-१९
२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २१७
३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २२७

के वर्ण का निश्चय उसके कर्म से होता है, जन्म से नहीं । व्यक्ति की जाति का आधार उसका चरित्र है फिर चाहे जन्म उसने किसी भी जाति में लिया हो । जिसमें ब्राह्मण के गुण नहीं हैं वह नाम मात्र का ही ब्राह्मण है । यह उसी प्रकार है जैसे हम लकड़ी के हाथी को हाथी और हिरन की खाल को हिरन कहते हैं । वह ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र कहा जाना चाहिए । जो वेद के ज्ञान से रहित है तो वह शूद्र ब्राह्मण हो जाता है जिसमें ब्राह्मण की योग्यता है और यही बात क्षत्रिय और वैश्य पर लागू होती है ।' गीता में यह बात स्पष्ट तौर पर कही गयी है कि चार वर्णों का आधार गुण, कर्म और स्वभाव है । डा० राधाकृष्णन का भी मत है --'बहुत से ऋषि जिनको ब्राह्मण भी पूजा करते थे, निम्न जातियों में से थे । महर्षि वशिष्ठ का जन्म वेश्या के गर्भ से हुआ है, व्यास मछलीमार स्त्री के पुत्र थे और पाराशर की माता चाण्डाल जाति से थी ।'[१] मेरा विचार है कि अपने गौरवकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा भारतीय समाज का वैज्ञानिक विभाजन हुआ था परन्तु कालान्तर में जब जन्म से वर्ण निर्धारित होने लगे और वर्ण-व्यवस्था कठोर पड़ने लगी तो वर्ण-व्यवस्था का रूप परिवर्तित होने लगा और अनेक सामाजिक समस्याएं तथा संकीर्णताएं उत्पन्न होने लगीं ।

(ख) जाति पांति का विकास एवं

द्विवेदी जी ने अपने अनेक निबन्धों में जाति-पांति का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है । उनके उपन्यासों, आलोचना ग्रन्थों मुख्यत: मध्यकालीन बोध का स्वरूप रचनाओं एवं धर्म, कला, संस्कृति सम्बन्धी विचारों में भी जाति पांति और के विषय में पर्याप्त विचार मिलते हैं । 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या', 'समाज संस्कार पर विचार', 'संस्कृतियों का संगम', 'हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान', 'सभ्यता और संस्कृति',

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ११०-११४

भारतीय संस्कृति का स्वरूप, संस्कृति और साहित्य नामक निबन्धों, `बाणभट्ट की आत्मकथा `, `पुनर्नवा` ` नामक उपन्यास , `सूरसाहित्य `, `मध्यकालीन बोध का स्वरूप ` तथा `कबीर` नामक आलोचनात्मक लेखन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अपने अन्य अनेक निबन्धों में अपरोक्ष रूप से जाति-पांति के विषय में अनेक तथ्यों और सम्भावनाओं का उद्घाटन किया है ।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में जातियों की उत्पत्ति का विषय पर्याप्त जटिल और रोचक है । वस्तुत: विश्व के अन्य देशों की भांति यहां पर नहीं थी । वर्ण-व्यवस्था के प्रारम्भ काल में हम भारत में जाति प्रथा नहीं पाते । समाजशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति और विकास के विषय में कई महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं, इनका संक्षिप्त उल्लेख प्रासंगिक होगा ।

भारत में जाति प्रथा के विकास के विषय में अनेक बातें कही गयी हैं । इनकी उत्पत्ति का स्रोत प्राय: प्राचीन भारतीय इतिहास में खोजा जाता रहा है । उसके आधार पर इसके विकास के कई क्रम निश्चित किये गये हैं । वैदिक युग में जाति प्रथा की स्थिति बड़ी स्पष्ट थी । एक आर्य जाति दूसरी अनार्य जाति थी । आर्यों के मध्य कार्य विभाजन करने के लिये कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया । वर्ण व्यवस्था का निर्धारण विशुद्धत: रंग के आधार पर नहीं किया गया था, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो लगभग एक ही रंग के थे । वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार कार्यक्षमता तथा ही था । अनार्य वर्ण व्यवस्था से बाहर थे । ऐसा लगता है आर्य पहले ही दृष्टि में अनार्यों से घृणा करने लगे थे, अत: उन्होंने अनार्यों को अपने से अलगाव देने के लिये उन्हें अलग जाति का कहा ।

इस प्रकार भारत में जाति प्रथा का विकास आर्य तथा अनार्य जाति से प्रारम्भ हुआ । आर्यों के चारो वर्ण एक आर्य जाति के थे, भले ही शूद्र माने गये । परन्तु आर्यों ने उन्हें अपनी वर्ण में स्थान तो

दिया । अनेक शूद्रों ने तो कर्म द्वारा ब्राह्मणत्व भी प्राप्त किया था । बाद में जब जनसंख्या बढ़ी तो वर्णों को पहचानना मुश्किल होने लगा तो अपनी श्रेष्ठता या अस्तित्व बनाये रखने के लिये प्रत्येक वर्ण अपने को जाति मान बैठा । जाति प्रथा का विकास इसी तरह होता रहा और आज का भारत विभिन्न जातियों का अजायबघर बन गया । जाति प्रथा के विकास की चर्चा करते हुए यही बात द्विवेदी जी ने कही है, `वैदिक साहित्य में इस (जाति) प्रथा के मूल बीज वर्तमान अवश्य हैं परन्तु उस युग में यह प्रथा वैदिक धर्म और वैदिक आर्य समाज का इतना जबरदस्त अंग निश्चय ही नहीं थी ......वर्ण व्यवस्था की मनोवृत्ति जाति भेद के बहुत से लक्षणों के कठिन होने में सहायक सिद्ध हुई[1] । वस्तुत: उनके ये विचार अक्षरश: सही हैं । साहित्यिक साक्ष्य इसकी पुष्टि करते हैं ।

जाति प्रथा की उत्पत्ति के विषय में द्विवेदी जी ने उस पुरातन आर्य प्रथा का अनुशीलन किया है । जिसके अनुसार किसी भी विचार को प्रमाणित करने के प्रयत्न में प्रारम्भ से ही जिज्ञासा का उत्थापन किया जाता है[2] । उन्होंने इस क्रम में पांच प्रश्नों में अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की है --(१) वर्णाश्रम व्यवस्था से जाति-पांति का क्या सम्बन्ध है ? (२) जातियां बनी कैसे और उनको कहां तक बदला जा सकता है ? (३) जातियों को परस्पर बांधने वाला ऐक्य सूत्र क्या है ? (४) मत और क्या है ? उनका आश्रम व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है, जातियों के साथ उनका क्या नाता है ? तथा इस प्रतिदिन परिवर्तन मान काल में हिन्दू समाज का क्या भविष्य है ? क्या वह संसार की महाजाति का एक अंग ही होगा, महाजाति बनने का नेतृत्व करेगा या बाधा देगा[3] । इन्हीं प्राचीन भारतीय साहित्य

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३०४

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ १२७

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ १२७-२८

और प्रमाणों का मंथन करने के उपरान्त द्विवेदी जी ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि वैदिक साहित्य में जाति प्रथा के कुछ मूल बीज तो अवश्य है, परन्तु उस युग में जाति प्रथा समाज और धर्म का निश्चय ही अंग नहीं थी[१]। वस्तुत: जाति शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत में आधुनिक अर्थ में नहीं हुआ[२]। फिर भी उन्होंने इस सम्भावना से इंकार नहीं किया है कि वर्ण-व्यवस्था जाति भेद के बहुत से लक्षणों के लिये उत्तरदायी जरूर थी[३]। उनके इस मत से हम पर्याप्त सीमा तक सहमत हो सकते हैं। वस्तुत: वर्ण व्यवस्था की कठोरता आर्येतर जातियों के प्रति आर्यों के दृष्टिकोण, उन्हें समाज में स्थान दिये जाने की समस्या, विदेशी जातियों का भारत में आगमन, यहां पर बसने का निश्चय आदि ने जाति प्रथा को उत्पन्न एवं पुष्ट किया, इस तथ्य को द्विवेदी जी ने सौम्यता से स्वीकार किया है। वे कहते हैं, अगर हम जाति-भेद के आधुनिक रूप का विश्लेषण करें तो तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट हो जान पड़ेंगे -(१) जन्म की प्रधानता, (२) छूआछूत, (३) अन्य जाति में विवाह सम्बन्ध का निषेध[४]। धर्म के नाम पर जो सामाजिक व्यवस्था थी वह टूट चुकी थी, बर्बाद हो गयी है,........ हमारी वर्ण व्यवस्था नष्ट हो चुकी है, विभाग के भीतर विभाग, जातियों के भीतर उपजातियां, टोलियों के भीतर उपटोलियां इस बात के प्रमाण हैं[५]। 'यदि निर्गुणिया सन्तों की वाणियों को सामाजिक अध्ययन के लिये विश्लेषण किया जाये तो एक बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन वाणियों को रूप देने में मध्यकालीन सामाजिक स्तर भेद की कठोरता का बड़ा हाथ है। प्राय: सभी सन्त उस स्तर से आये थे जो आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३२६

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३२६

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३०४

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३२६

५- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३२२

निचले भाग में था । व्यक्तिगत रुचि और संस्कार के कारण इस कठोर स्तर भेद की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में हुई है, पर सबमें इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है, केवल मात्रा का ही भेद है ।[१] जातियों और उपजातियों के विकसित होने और उनके भेदोपभेद बन जाने के विषय में द्विवेदी जी ने दसवीं शताब्दी ईस्वी में जाति भेद के स्पष्ट रूप का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'इस प्रकार दसवीं शताब्दी के बाद जाति पांति की व्यवस्था तेजी से दृढ़तर होती गयी और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को ठेलती चली गयी । इस प्रकार यह एक विचित्र-सी बात है कि जाति पांति को तोड़ने वाली संस्कृति के आक्रमण ने इस देश के समाज में जाति-पांति का भेद-भाव और भी अधिक बढ़ा दिया ।[२] पुन: वे लिखते हैं, 'यह विचित्र सी बात है कि जिस समय भारतवर्ष में जाति-पांति को तोड़ने वाली संस्कृति ने प्रबल प्रताप के साथ आक्रमण करना शुरू किया और अन्त तक इस देश में अपना शासन स्थापित करने में सफलता पाई, उसी समय जाति-पांति का बंधन और भी कठोर हो गया[३] । जातिप्रथा के विकास के कारणों के विषय में द्विवेदी जी ने आर्थिक विषमता को भी एक कारण माना है तथा उन्होंने कहा है, 'आर्थिक विषमता के कारण कभी-कभी एक ही जाति दो भागों में बंट गई है, सम्पन्न श्रेणी ऊंची जाति में मान ली गयी है और असम्पन्न श्रेणी निचली जाति में ।[४] मेरे विचार से उनका यह विचार पूर्णत: सत्य है द्विवेदी जी के अनुसार ऐसा भी हुआ है कि आर्थिक दशा सुधरने पर जाति का स्तर भी बदल जाता था, 'आज जो जातियां समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं वे सदा वहीं नहीं रही और न वे सभी सदा ऊंचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊंची हैं ।[५]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २७७

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३५५

३- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३५०

४- वही , खण्ड ९, पृष्ठ ३३३

५- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ३५८

वर्ण-जाति-पांति के गुण-दोष :

जैसा कि ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जाति-प्रथा का विकास वर्ण-व्यवस्था के बाद हुआ । अत: यह वर्ण व्यवस्था से कई अर्थों में भिन्न थी । वर्ण-व्यवस्था के आदर्श थे । जिनके अनुसार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना जिनमें समाज के सभी व्यक्ति अपना-अपना कर्म करते हुए सामूहिक रूप से अपने आध्यात्मिक चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हों । मुक्ति और वर्ण-व्यवस्था में क्या तर्कपूर्ण सम्बन्ध है इस विषय में सन्देह कर सकते हैं, परन्तु इसके आदर्श के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती । वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज के आदर्श की प्राप्ति का आधार थी । वह आश्रम धर्म और पुरुषार्थ चतुष्टय के साथ सम्बद्ध थी । ये तीनों मिलकर व्यक्ति और समाज को उसके चरम लक्ष्य की ओर ले जाते थे । यद्यपि कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था जब कर्म प्रधान न रह गयी तो इसमें अनेक दोष आ गए । फिर भी वह आदर्श तो थी । जाति व्यवस्था का आदर्श केवल भौतिक था । इसके भौतिक आदर्शों में सामाजिक जीवन का संगठन, राजनैतिक स्थिरता, कुप्रजननकी विशुद्धता सफल वैवाहिक जीवन, सामाजिक स्तर का निर्धारण, सामाजिक सुरक्षा, व्यवसायिक हितों की रक्षा, श्रम विभाजन का निश्चिती-करण और भौतिक, मानसिक सन्तोष आदि थे । यही इसके गुण माने जाते थे । किसी सीमा तक द्विवेदी जी ने अपने लेखन में जब-तब इस सत्य को स्वीकार भी किया है । जाति प्रथा के दोषों के प्रति द्विवेदी जी अपनी मानवतावादी विचारधारा के कारण विशेष चिन्तित दीख पड़ते हैं । जाति व्यवस्था में व्याप्त जटिलता का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, "भारतवर्ष में जाति-भेद, और का मनोभाव से चला आ रहा है । आज से पांच सौ वर्ष पूर्व यह मनोभाव और भी तीव्र था ...... परन्तु विप्लवकारी चिन्तन के बावजूद सामाजिक भेदभाव और समाज के अनेक वर्गों को अस्पृश्य मानते रहने का क्रम भी ज्यों का त्यों चलता रहा है ।"[१] जाति-पांति ने

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४४

ऊंच-नीच की भावना का दृढ़ीकरण किया । 'इस देश में ऊंच-नीच का ऐसा जटिल विधान शताब्दियों से स्वीकृत है, जिसे बड़े-बड़े महात्माओं के उपदेश हिलाने में असमर्थ रहे हैं ।'[1] इसका परिणाम यह होता है कि, 'जब हम आगे बढ़ने लगते हैं तो कुछ लोग नीचे की ओर खींचते हैं ।'[2] जाति पांति का निर्धारण तत्त्व जन्म है । इसके परिणामस्वरूप 'समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल नहीं माना जाता, बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम माना जाने लगा है ।'[3] जाति पांति के दोषों के विषय में द्विवेदी जी के अनेक उल्लेख दृष्टव्य हैं --

'भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे अधिक है और जाति व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जन समुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने में बिलकुल नहीं हिचकते, हिन्दू भी नहीं, मुसलमान भी नहीं । किसी जाति की भाषा पर जब दूसरी जाति का प्रभाव पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण जातिगत और धर्मगत हीनता का भाव होता है ।'[4] . . . . एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशान्ति का कारण और क्या हो सकता है ।'[5] . . . जाति- पांति छुआ-छूत और सदा सर्वदा के लिये निर्धारित ऊंच-नीच का स्तर भेद हिन्दुओं को संसार के सभी धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों और   से अलग कर देता है ।'[6] . . . आपसी भेदभाव पहले से ही बहुत जटिल   व्यवस्था की ओर अधिक

1- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २०६

2- वही , खण्ड ६, पृष्ठ १९९

3- वही , खण्ड ३, पृष्ठ ५०८

4- वही , खण्ड १०, पृष्ठ २८८

5- वही , खण्ड १, पृष्ठ २२६

6- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३२६

उलझाता जा रहा था ।.... जिस किसी ने जाति भेद को हटाने का प्रयास किया, उसी के नाम पर एक नयी जाति और एक नये सम्प्रदाय की स्थापना हो गयी ।[1]

जाति पांति के कारण भेद में अभेद और विभिन्नता और विविधता में एकता का आदर्श लुप्त होने लगा । समाज की विभिन्न जातियां अपने-अपने दायरे में ही सीमित होकर एक दूसरे से अलग हो गयी । जातियों में भी बहुत सी उपजातियां बन गयी । जिनको नीच जाति कहा जाता था उन पर प्रतिबन्ध बढ़ने लगे और उनकी अवस्था गिरती गयी । जातिगत होड़ भी प्रारम्भ हो गई । जातियां सामाजिक कर्तव्य को भुलकर अपने-अपने अधिकारों को सुरक्षित करने के प्रयत्न में लग गईं । जातीयता की भावना तीव्र होने लगी । हिन्दू समाज नाममात्र को रह गया । वह कई जातियों उपजातियों का समूह मात्र रह गया । सामाजिक एकता के न रहने और संकुचित जातीयता के बढ़ जाने से राष्ट्रीय चेतना का नितान्त अभाव बहुत दिनों तक बना रहा । इससे हिन्दू समाज को ठोकर लगी । किसी उच्च सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप जब विकृत हो जाता है तो वह और अधिक घातक हो जाता है । वर्ण व्यवस्था और जाति पांति ने यही कुछ किया । यह शोचनीय अवस्था कुछ वर्षों पूर्व तक विद्यमान थी । समाज सुधार आन्दोलनों और कुछ परिवर्तनों के जाति बन्धन में धीरे-धीरे कुछ आ रही है पर आज भी अनेक संकीर्ण रूढ़ियों और परम्पराओं में आबद्ध जातियां सामाजिक जीवन के स्वच्छ प्रवाह से दूर हैं ।

द्विवेदी जी ने कहा है आज हिन्दू समाज विनाश के द्वार पर है । जाति पांति, छुआ-छूत और छका-छकैया के लिये निर्धारित ऊंच-नीच का स्तर भेद हिन्दुओं को संसार के सभी धर्मों, समाजों, सम्प्रदायों और जातियों से अलग कर देता है । लोग भी जाने किन इन्हीं प्रथाओं के उच्छेद का स्वप्न देखते रहते हैं ।[2]

—

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २२६

२- वही खण्ड ६, पृष्ठ ३२६

<u>छुआछूत :-</u>

कर्मकाण्डकी दृष्टि से जाति प्रथा महत्वपूर्ण है, इसीलिये इसमें खान-पान, छुआ-छूत, सहवास आदि के नियमों पर बहुत ज़ोर दिया जाता है । छुआछूत में सात निषेध हैं :- पंक्ति निषेध, पाक निषेध, भोजन निषेध, जल निषेध, खाद्य निषेध, हुक्का पानी निषेध और पात्र निषेध । खान-पान तथा स्पर्श आदि की दृष्टि से भारत की जातियों को पांच भागों में बांटा जा सकता है -- (१) द्विज जातियां, (२) वे जातियां जिनके हाथ का पका भोजन द्विज जातियां ग्रहण कर सकती हैं, (३) वे जातियां जिनके हाथ का पानी द्विज जातियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, (४) वे जातियां जो अस्पृश्य तो नहीं है पर उनके हाथ का पानी द्विज जातियां ग्रहण कर सकती तथा (५) अस्पृश्य जातियां ।

उपरोक्त विवरण अपने समग्र रूप में छुआछूत के प्रतिपादन का मूल रूप है । छुआछूत का जो भयावह रूप   प्राप्ति के पूर्व के भारत में था, वह बहुत प्राचीन नहीं है अपितु नया रोग कहा जा सकता है । जहां तक छुआ-छूत किसी पापी या दुराचारी को दण्ड देने के विधान के रूप में है या स्वास्थ्य या   की रक्षा के लिये है, वह समर्थित किया जा सकता है । भारत की प्राचीन   की भावना प्रायः इसी आधार पर थी परन्तु किसी व्यवसाय को अपनाने के कारण किसी जाति से सम्बद्ध होने पर कोई व्यक्ति अछूत हो जाय- यह विधान कभी भी मान्य नहीं होना चाहिए था ।   का विधान शरीर से स्पर्श करने के अर्थ में प्रायः कम ही रहा है । इसकी सीमा भोजन और पान तक विशेष रूप से व्याप्त थी । भोजन और पान के ग्रहणीय होने के सम्बन्ध में शास्त्रानुसार   , गुरु और राजा आदि आते थे । इनमें से राजा का भोजन पान तो आर्थिक प्रलोभनवश शास्त्र विरुद्ध होने पर भी ब्राह्मण ग्रहण कर लेते थे, परन्तु अन्य के विषय में   बनी रही ।

जी के   :- "ऐसा जान पड़ता है कि स्पर्श दोष शुरू में नहीं माना जाता था, बाद में माना जाने लगा परन्तु वैदिक   में यह अन्तिम

भाग बन रहे थे उन दिनों स्पर्श दोष की भावना अधिक नहीं हुई थी ।[1] वैदिक साहित्य के अन्तिम अंश जिन दिनों बन रहे थे उन दिनों समाज में स्पृश्यास्पृश्य और वर्णसंकरता के प्रति सतर्कता की भावना बढ़ रही थी ।[2] द्विवेदी जी ने छुआछूत का विश्लेषण करते हुये उसके चार मोटे स्तरों को निर्दिष्ट किया है । वे हैं -- (१) वे जातियां जिनके देखने से ऊंची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (२) वे जातियां जिनके छूने से ऊंची जाति के आदमी का शरीर अपवित्र हो जाता है,(३) वे जातियां जिनके छूने से ऊंची जाति के आदमी का शरीर तो नहीं पर पानी या घृतपक्व अन्न दोषयुक्त हो जाते हैं, और (४) वे जातियां जिनके छूने से पानी, घृतपक्व अन्न तो नहीं परन्तु कच्ची रसोई दोषयुक्त हो जाती है ।[3] जैसा कि पूर्वोक्त कहा जा चुका है समूचे वैदिक साहित्य में छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता । द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुये लिखा है -'यह प्राय: -सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का कोई उल्लेख नहीं मिलता । धर्मसूत्रों में संसर्ग दुष्ट, काल दुष्ट और आश्रय दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है । इनमें आश्रय दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है ।[4] द्विवेदी जी ने प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाकारों, विशेषकर धर्मशास्त्रों के अनुसार, स्पृश्यास्पृश्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुये निष्कर्ष स्वरूप कहा है -- 'पर अगर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि सूत्रकाल में से अपवित्र होने की भावना दृढ़ होती जा रही थी पर उसके विषय में नाना प्रकार के मतभेद तब भी वर्तमान थे । यह ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में केवल अन्न के दुष्ट होने का

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २७६

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ २७८

३- वही , खण्ड ५, पृष्ठ २७९

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३३०

को उल्लेख है । अन्यान्य प्रकार के स्पर्श दोष...... उन दिनों उद्भावित नहीं हुये थे । ऐसा जान पड़ता है कि स्पर्श दोष शुरू में नहीं माना जाता था, बाद में माना जाने लगा, परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग जब बन रहे थे, उन दिनों स्पर्श दोष की भावना जटिल नहीं हुयी थी ।[1] वे आगे लिखते हैं, 'वैदिक साहित्य के अन्तिम अंश जिन दिनों बन रहे थे, उन दिनों समाज में स्पृश्यास्पृश्य और वर्णसंकरता के प्रति सतर्कता की भावना बढ़ रही थी ।[2] द्विवेदी जी के अनेकानेक निबन्धों, उपन्यासों के तत्सम्बन्धित सन्दर्भों में यत्र-तत्र उनके लेखन में छुआछूत के प्रति उनके दृष्टिकोण का आभास मिलता है । उनके साहित्य के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि छुआछूत के विषय में उनके विचार पर्याप्त रूप में तर्क-सम्मत और एक निश्चित निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं । छुआछूत को समाप्त कर देने के प्रयासों की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी ने स्पष्ट रूप में यह कहा है कि इस प्रथा को समाप्त करने के जितने भी आन्दोलन धर्म के नाम पर हुये हैं, उनसे छुआछूत की भावना समाप्त नहीं हुयी । वस्तुत: आर्थिक और राजनीतिक कारणों से समाज के इस वर्ग की मर्यादा ऊपर उठी है । समाज के कुछ ऊंचे वर्ग के कुछ लोगों में के विरुद्ध निश्चित रूप से प्रतिक्रिया हुयी । को समाप्त करने के प्रयासों और उसके सम्भावित परिणामों की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, "इस देश में बहुत से सातुमना व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जायेगा । बहुत से लोग इनका छुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं । यह मनोवृत्ति उचित नहीं है । जन जागृति जिस दिन सम्पूर्ण होगी, उस दिन ऊंची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं करेंगे, ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे .... मैं हैरानी के साथ सोचता हूं कि क्या हममें उस महान घटना को सहने का साहस है ? यह जागृति धर्म और

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ९, पृष्ठ २७६

२- वही , खण्ड ९, पृष्ठ २७८

समाज सुधार का सहारा नहीं लेगी, वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी ।[१] द्विवेदी जी का यह निष्कर्ष आज हमें सत्य का दर्शन करा रहा है । समाज सुधार के लिये हरिजनों को मन्दिरों में ले जाने की कितनी ही बातें की जा रही हैं, आन्दोलन हो रहे हैं । राज्य ने इसके लिये नियम भी बनाये हैं, परन्तु वास्तविक रूप में अस्पृश्य और पददलित वर्ग राजनैतिक शक्ति और आर्थिक सम्पुष्टता के आधार पर अपनी स्थिति को पहले से उच्च बनाता जा रहा है ।

परिवार तथा पारिवारिक जीवन :

संस्कृति के उत्थान और विकास में जिस सामाजिक संस्था का सर्वाधिक योगदान है, वह परिवार संस्था है । परिवार मानव जीवन की पूर्णता की आधारभूत इकाई रहा है । इसमें सम्बन्ध भावना की सुसभ्य अभिव्यक्ति परिवार के गठन के रूप में हुई । सन्तानोत्पत्ति से परिवार की वृद्धि हुई तो सहयोग, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग एवं उत्तरोत्तर उन्नति की कामना बलवती होती गयी । द्विवेदी जी ने इसको स्पष्ट करते हुये `अनामदास का पोथा` उपन्यास में लिखा है - `पारिवारिक सम्बन्ध चाहे वे वास्तविक हों या कल्पित, मनुष्य के अवचेतन को पवित्र और निर्मल बनाते हैं । जिस दिन लोग इस बात को भूल जायेंगे, उस दिन समाज उच्छिन्न हो जायेगा ।`[२] प्राचीन भारत में परिवार का विकास द्विवेदी जी के उपरोक्त कथन के आधार पर ही हुआ था ।

प्राचीन भारत में परिवार की प्रमुख लाक्षणिकता परिवार का संयुक्त होना है । : एक संयुक्त परिवार में तीन पीढ़ी के सदस्य रहते थे । जिसमें माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री की गणना

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ४४५

२- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३५६

होती थी । इसके अतिरिक्त परिवार में बाद की वृद्धि के सदस्य और उनका परिवार भी संयुक्त परिवार में सम्मिलित होते रहते थे । संयुक्त परिवार की परिकल्पना ऋग्वेद में मिलती है, तुम यहीं इसी घर में रहो, वियुक्त मत हो, अपने घर में पुत्र तथा पौत्रों के साथ आनन्द मनाते हुए पूर्णायु का उपभोग करो तथा तू (वधू) सास, श्वसुर और ननद तथा देवर पर शासन करने वाली रानी बन ।[1]

उत्तरवैदिक काल में भी हिन्दू परिवार संयुक्त प्रणाली पर ही आधारित था । आदर्श परिवार में पिता सहित उसके पुत्र-पौत्र रहते थे । किन्तु उसकी में सम्पत्ति के बंटवारे की मांग बढ़ती जा रही थी । फिर भी इस कारण से कुटुम्ब का विघटन बहुत कम होता था । भारत का ऐतिहासिक युग लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ होता है । इस युग में संयुक्त परिवार के आदर्श का विघटन देखने को मिलता है । किन्तु फिर भी संयुक्त परिवार के आदर्श को सर्वत्र सम्मान प्राप्त था । शनैः शनैः स्थिति में परिवर्तन होता गया और यह पारिवारिक व्यवस्था विच्छिन्न होने लगी । इस ओर द्विवेदी जी ने संकेत करते हुये लिखा है -"कार्य के उद्देश्य से अलग-अलग स्थानों में वास करने के कारण पारिवारिक आधार, परम्परा विशेष रूप से आहत हुई"। ..... कुछ पेट की लड़ाई से, कुछ केन्द्र च्युत मस्तिष्क की उमंग से सम्मिलित परिवार प्रथा शिथिलतर होती गई । विवाह करना भार समझा जाने लगा, बहुत दिनों की सांसारिक रूढ़ि एकाएक टूट सी गयी ।[2] परन्तु यह सब एकाएक नहीं हुआ था । वस्तुतः संस्कृति और सभ्यता के परिवर्तन अचानक नहीं होते, उनके कारण एक लम्बे समय तक पनपते रहते हैं और मन्थर गति से संस्थाओं में परिवर्तन ला देते हैं ।

कर्तव्य और अधिकार के से ही परिवार सुचारू रूप से

१- ऋग्वेद - १०।८५।४२ तथा १०।८५।४६

२- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २९८-२९९

चलता है । सभी के अपने-अपने आदर्श होते हैं । अधिकार और कर्तव्य होते हैं । गृहपत्नी के जीवन का उल्लेख करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, 'वह (गृहपत्नी) कठिन व्रतों का अनुष्ठान करती थी, ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा करती थी....... . इस प्रकार यद्यपि वह अवरोध में रहती थी (कादम्बरी), तथापि पूजा-पाठ और विश्वास के अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानों को समय वह बाहर निकल सकती थी '।[१] ये अन्यान्य मांगल्य कार्य निश्चय ही परिवार की वृद्धि करने और उसे समृद्धिशाली बनाये रखने के लिये किये जाते थे । गृहपति की चिन्तायें भी कम नहीं थीं । परिवार के सभी सदस्यों की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरा करना उसका कर्तव्य था । परिवार के अन्यान्य सदस्यों की असन्तुष्टता के कारण संयुक्त परिवार के विघटन और विभाजन का उल्लेख स्मृतिकारों ने किया है । नारद ने क्रोधी-विषयी और शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले पिता की सम्पत्ति बांटने का निर्देश दिया है । बौद्ध ग्रन्थों में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनके अनुसार पिता ने परिवार से दुःखी होकर बौद्धधर्म में दीक्षा ली । बाद में, द्विवेदी जी ने जैसा कि लिखा है, 'प्रत्येक गृह कलह का अखाड़ा था, क्योंकि सम्मिलित परिवार प्रथा तब भी चल रही थी । उस समय जो जब तक काम कर सकता था सेवा करता था । वृद्ध और शिथिलेन्द्रिय होने पर उसी के लड़के-बाले उसका निरादर करने लगते थे '।[२] वर्तमान समय में पारिवारिक प्रथा पूर्णतया बदल चुकी है ।

परिवार की प्रथा अपने अन्तिम दिन देखने को है । आर्थिक दबाव में अच्छे तो युवक-युवतियां विवाह करना ही पसन्द नहीं करतीं, यदि किया भी तो पेट की चिन्ता में एक भाई दूसरे को त्यागने के लिये बाध्य हैं । यूरोप और अमरीका में सौतेले परिवारों का स्थान ले चुके हैं । भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहर भी इसका करने लगे हैं ।[३] परन्तु भारत की प्राचीन परम्परा के

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ४३१

२- वही , खंड ४, पृष्ठ ६१

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १७५

सन्दर्भ में यह पूर्ण वास्तविकता नहीं है । स्वयं द्विवेदी जी ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा है, 'हमारा समाज आज भी अधिकांश में सम्मिलित परिवार-प्रथा द्वारा नियन्त्रित है ।[1] परिवार के सदस्यों की स्थिति के विषय में द्विवेदी जी ने अनेक महत्वपूर्ण बातें कही हैं । परिवार में पति-पत्नी के महत्व को इंगित करते हुये कहा है'.... .... गृहस्थी के अनेक उत्तरदायित्वों के पालन के साथ चलने वाले पति-पत्नी के प्रेम को उत्कृष्ट माना है ।[2] निश्चय ही पति-पत्नी के रूप में व्याप्त प्रेम परिवार के आदर्शों की प्राप्ति में सहायक होता था । पिता का अर्थ स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, 'पिता एक सम्बन्ध विशेष है इसका अपने आप में कोई अर्थ नहीं है । कोई व्यक्ति-विशेष किसी व्यक्तिविशेष का पिता होता है । इसलिये पिता शब्दार्थ एक प्रकार अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है । पिता शब्द का अर्थ वस्तुत: प्रदीप और प्रकाश के समान है । जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है, उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है ।[3]

महाभारत में उल्लेख है कि अध्ययन और पोषण प्रदान करने वाला पथका गुरु (पिता) ही परम धर्म है । पिता जिस प्रकार का आदेश दे, वही धर्म है, यह वेद में भलीभांति सुनिश्चित है । पिता ही धर्म है, स्वर्ग है, परमतप है, जिसके प्रसन्न होने पर देवता हर्षित होते हैं ।[4]

भारतीय संस्कृति में माता का स्थान अत्यन्त ऊंचा और गरिमा-युक्त है । पारिवारिक जीवन की वह अटूट कड़ी है । वह परिवार के सभी सदस्यों को जोड़ती है, कई अर्थों में वह पिता से भी अधिक महत्वपूर्ण है । इस

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३८४

२- वही , खण्ड २, पृष्ठ १६५

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ १९२

४- वही - १२ । २६६। १४ ।२१

तथ्य को द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'परिवार के केन्द्र में बैठी हुई स्त्री यदि मन, कर्म और वचन से परमात्मा पर विश्वास करती है, तो वह परिवार निश्चय ही शक्तिशाली होता है, सुखी और सम्पन्न हो जाता है...... अन्त में सारा समाज लाभान्वित होता है।'[1] वेदों में सर्वत्र माता का अभिनंदन किया गया है। व्यवहार में माता सर्वदा पिता शब्द से पहले व्यवहृत होती रही है - 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'। आपस्तम्ब, बोधायन, वशिष्ठ जैसे शास्त्रकारों ने यहां तक लिखा है कि 'पतित पिता छोड़ा जा सकता है किन्तु मां नहीं छोड़ी जा सकती। द्विवेदी जी स्त्री द्वारा मातृत्व न प्राप्त करने को सबसे बड़ा अभिशाप मानते हैं, 'स्त्री मां बनकर ही चरितार्थ होती है'।[2] 'बांझ होना स्त्री का सबसे बड़ा अभिशाप है'।[3] पति-पत्नी गृहस्थ रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं -- इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह कथन कि 'पति के कर्तव्य भ्रष्ट में भी पत्नी उसकी मंगल कामना करती है....पति को संकट में देखकर साधारण से साधारण स्त्री को जो क्रोध आता है वह भगवान का दिया हुआ अमोघ वरदान है।'[4]

भारतीय संस्कृति का सत्यासत्य विवेचन तथा द्विवेदी जी के विचारों को दृष्टिगत करते हुये यह कहा जा सकता है कि परिवार के सभी सदस्यों के मध्य सम्बन्ध एक आदर्श और व्यवहारिक मांगल्य पर आधारित थे। परिवार में पिता भरण, रक्षण, शिक्षण करता था। माता पोषण करती थी। धर्मशास्त्रों की आज्ञा है, जब तक माता-पिता जीवित रहें, बच्चों को उनके अधीन रहना चाहिए। माता-पिता तथा आचार्य तीनों देवता-तुल्य पूज्य माने जाते थे। अधिकार की दृष्टि से पिता की प्रभुता सर्वोच्च थी, परन्तु माता को सर्वश्रेष्ठ वन्दनीय माना गया है।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड - ८, पृष्ठ ३९१

२- वही , खण्ड- २ , पृष्ठ ३८४

३- वही , खण्ड २ , पृष्ठ २८६

४- वही , ,, , पृष्ठ ४२७

खान-पान :

समाज में जीवन धारण करने की दृष्टि से भोजन और पान का सबसे बड़ा महत्त्व है । भोजन और पान के स्तर को ऊंचा रखकर ही समाज सबल और श्रेष्ठ बन सकता है । 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ चित्त का निवास होता है । स्वस्थ चित्त में ही सात्त्विक संकल्प पुष्ट होता है ।'[1] भारत की शाश्वत धारणा रही है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका शरीर और विचार-प्रवृत्तियां होती हैं[2] । छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार 'आहार शुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से ध्रुवस्मृति, ध्रुवस्मृति से ही मोक्ष मिल जाता है'[3] । गीता के अनुसार रसीले, स्निग्ध, स्थिर और मनोहर आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं । इनसे आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है, कटु, चर्परे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे और रूखे, भोजन राजसी वृत्ति के मनुष्य को प्रिय होते हैं, इनसे दु:ख और रोग उत्पन्न होते हैं । बासी, नीरस, दुर्गन्ध, जूठा और अपवित्र भोजन तामसी वृत्ति के मनुष्य को प्रिय होते हैं । खाद्य और अखाद्य वस्तुओं का निर्णय प्राय: धर्मशास्त्रों में मिलता है । भारत को छोड़कर अन्य देशों की संस्कृति में साधारणत: की समस्या पर चिन्तन करने की नीति प्राय: नहीं मिलती । द्विवेदी जी ने प्राचीन भारत में खान-पान के विषय में, अनेक संदर्भों में महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं । प्राचीन भारत के विनोद के अन्तर्गत उन्होंने नागरिक के दैनिक जीवन का बहुत ही सुरुचिपूर्ण विवरण दिया है । वे अपने वर्णन द्वारा ऐसा चित्र खींचते हैं कि तत्कालीन नागरक सम्मुख भोजन करता हुआ प्रतीत होता है । द्विवेदी जी ने लिखा है, 'भोजन दो बार विहित था, मध्याह्न और अपराह्न को । इस का मत बताते हुये उन्होंने चारायण आचार्य को उद्धृत करते हुये बताया है कि दूसरा भोजन

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ ३६२

२- कम्प्लीट वर्क्स आफ , ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ४, पृष्ठ १-२

३- छान्दोग्य उपनिषद - ७। २६।२

ज्यादा अच्छी होता था । नागरक के भोजन में भक्ष्य, भोज्य, लेह्य (चटनी), चोष्य पेय सब होता था । पेय को भोजन की भांति जीवन के लिये आवश्यक माना गया । सृष्टि के आदिकाल से ही प्राय: सभी जीवधारियों के लिये जल पीने की आवश्यकता रही है । अन्य पेयों में दूध, मधु, फलों और पौधों के रस साधारणत: सदा प्रचलित रहे हैं । इनके अतिरिक्त सोम, मदिरा आदि साधारण पेय थे । गेहूं, चावल, जौ, दाल, मांस सब तरह के पेय पदार्थ भोजन में सम्मिलित थे । `ब्राह्मण को मिठाई सर्वाधिक प्रिय है,` इस कहावत को चरितार्थ करते हुए द्विवेदी जी ने उल्लेख किया है, `अन्त में मिठाई खाने की भी विधि थी । भोजन समाप्त करने के बाद नागरक आराम करता था और एक प्रकार धूमवर्ति (चुरुट) पीता था । चरक के अनुसार - धूम्रपान तीन प्रकार का होता था, प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचिक और धूम्रपान के लिये आठ समय निर्धारित किये गये थे । स्नान के पश्चात्, भोजन के पश्चात्, छींकने के पश्चात्, दातुन कर लेने के बाद, नस्य के अनन्तर, अंजन करने पर, सोने के पश्चात् तथा वमन के पश्चात् । आयुर्वेद के अनुसार इस प्रकार के धूम्रपान से अनेक प्रकार के विकार दूर होते हैं । `ताम्बूल भारत का बहुत उत्तम प्रसाधन था ।` ऐसा द्विवेदी जी का मत है, ताम्बूल, पूजा और श्रृंगार में समान रूप से व्यवहृत होता था । किन्तु साथ ही वह खाया भी जाता था[1] । प्राचीन खान-पान का अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि भोजन के पश्चात् धूम्रवर्तिका पीकर कुल्ला करके पान खाने की रीति थी[2] ।

द्विवेदी जी के अनुसार ताम्बूल के वीटक (बीड़ा) का बनाना बहुत बड़ी कला माना जाता था । वह कर्पूर से सुगन्धित होता था । इसे मांगल्य और   का सूचक माना जाता था । प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी स्वयं भी पान या ताम्बूल के प्रेमी थे क्योंकि उन्होंने इसकी प्रशंसा

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८५

२-   - ५। ६७-६९

में शास्त्रों से अनेक उद्धरण दिये हैं यथा -- 'वराहमिहिर ने कहा है -इससे कर्ण की प्रसन्नता आती है, मुख में कान्ति और सुगन्धि आती है, वाणी में मधुरिमा का संचार होता है ; वह अनुराग को प्रदीप्त करता है, रूप को निखार देता है, सौभाग्य का आह्वान करता है, वस्त्रों को सुगन्धित बनाता है और कफजन्य रोगों को दूर करता है'[1]। द्विवेदी जी ने पान लाने और इसे अनेक प्रकार से सुगन्धित करने की विविध विधियों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है । वे कहते हैं - खैर ज्यादा हो जाय तो लालिमा ज्यादा होकर भद्दी हो जाती है । सुपारी अधिक हो जाय तो लालिमा क्षीण होकर अशोभन हो उठती है । चूना अधिक हो जाय तो मुख का गन्ध भी बिगड़ जाता है, दाग हो जाने की सम्भावना रहती है, परन्तु पत्ते अधिक हों तो सुगन्धि निखर जाती है। जो प्राचीन भारत का नागरिक ताम्बूल का महत्त्व जानता था और मानता था, सुन्दरियां इसके गौरव की कायल थीं'[2]। ताम्बूल सेवन के प्रति द्विवेदी जी की जागरूकता इतनी सूक्ष्म है कि उन्होंने पीकदान की व्यवस्था तक का उल्लेख किया है और यहां तक लिख दिया है कि कन्यायें जब पति गृह जाती थीं तो उन्हें वस्तुओं के साथ सुन्दर पीकदान भी दिया जाता था । पद्मकुमार चरित का उल्लेख करते हुये द्विवेदी जी ने उस रोचक घटना का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पीक फेंकने से कृकवाक के जोड़े बन गये थे ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८६

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८७

रहन-सहन :

द्विवेदी जी के अनुसार - 'भोगविलासिता' में केवल भूख रहती है - नंगी बुभुक्षा, पर कलात्मक विलासिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहता है, सो कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता । उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामंजस्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके । परन्तु इतना ही काफी नहीं है । उस जाति में जीवन के प्रति एक ऐसी दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए, जिससे वह पशु सुलभ इन्द्रिय वृत्ति को और बाह्य पदार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो ।[1] द्विवेदी जी के इस विचार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय अपने रहन-सहन और दैनिक जीवन के प्रति विशेष जागरूक थे । उन्हें वसुन्धरा से विशेष लगाव था । वस्तुतः उस युग के भारतीय जीने की कला से बहुत अच्छी तरह परिचित थे ।[2] बाणभट्ट की कादम्बरी से अनुप्राणित होकर उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्राचीन भारत के नागरक के दैनिक जीवन और रहन-सहन के विषय में एक जीवन्त चित्र खींचा है । इस कृति में हम स्वयं को उस युग में जीवन्त पाते हैं । परन्तु द्विवेदी जी की दृष्टि से इस जीवन का वह पक्ष भी अछूता नहीं है, जिसमें कि साधारण जन रहन-सहन के उच्च स्तर से वंचित थे । उन्हीं के शब्दों में -'यह सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ हम दरिद्र देशी भारतीयों की समझ में नहीं आ सकता । हम आँखें फाड़-फाड़ कर देखते ही रह जाते हैं कि मधुमक्खियों के छत्ते की भी अपेक्षा अधिक व्यस्त दिखने वाले इस अन्तःपुर के इन व्यापारों का अर्थ क्या है ?'[3] इस प्रकार

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३६६

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३६६

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४०५

द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में जब तत्कालीन जीवन और रहन-सहन के विषय में विचार करते हैं तो उनकी दृष्टि से अन्तःपुर का सुरुचि-पूर्ण जीवन की घोर विलासिता और जनसाधारण के जीवन और रहन-सहन का दुर्दमनीय पक्ष भी अछूता नहीं रहता ।

वस्त्राभूषण :-

भौगोलिक कारणों से मानव को शरीर-रक्षा के लिये वस्त्रों की आवश्यकता अनुभूत हुई । लज्जावश शरीर पर आवरण धारण करना बाद में प्रारम्भ हुआ । इस विकास-क्रम में जब मनुष्य की अभिरुचियाँ अधिक परिष्कृत हुईं तो वस्त्रों के साथ-साथ आभूषण धारण करने की प्रथा चल निकली । द्विवेदी जी ने वस्त्र-वेश के सन्दर्भ में के महत्व की चर्चा करते हुये लिखा है - 'रूप रूप और अलंकारों के समवाय का नाम वेश है । स्त्रियों के सुवेश की सफलता इस बात में है कि प्रिय उसे देखे और देखकर प्रसन्न हो जाये'[1]। परन्तु उनके इस कथन में साहित्यिकता अधिक है । वस्तुतः लज्जा निवारण की दृष्टि से वस्त्रों का प्रयोग प्राथमिक है । आरम्भिक पहनावे के लिये उपादान रूप में पशुओं से चर्म, वृक्षों से पत्ते आदि ग्रहण किये गये । बाद में ऊन और रुई के धागों से वस्त्र बुने जाने लगे । यद्यपि रुई के कपड़ों का उल्लेख पूर्व वैदिक साहित्य में नहीं मिलता फिर भी यह संकेत मिलते हैं कि बहुविध उपादानों से उस युग में लोग वस्त्र विन्यास का आयोजन करते थे । द्विवेदी जी ने प्राचीनकाल में प्रयोग किये जाने वाले विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की चर्चा करते हुये लिखा है, 'वस्त्र चार प्रकार के होते हैं- कुछ छाल से, कुछ फल से, कुछ कीड़ों से, कुछ रोयें से बने हैं । क्रमशः क्षौम कार्पास (रुई के) कौषेय (रेशमी), राङ्कव (ऊनी) हैं'[2]। प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी ने प्राचीन भारत के वस्त्राभूषण

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ४३८

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४३४

का गम्भीर और गहन अध्ययन किया था । उनकी पैनी दृष्टि और सतर्क मस्तिष्क ने साहित्यिक अभिव्यक्ति करते हुये वस्त्राभूषण का बड़ा रोचक वर्णन किया है । उन्होंने `अंशुक` शब्द का अर्थ बताते हुये लिखा है, `अंशुक` शब्द का प्रयोग वस्त्र के सामान्य अर्थ में होता है । कभी-कभी कालिदास `आंचल` के अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हैं । रामायण उपयुक्त वस्त्रों के चार भेद बताते हैं -- (१) कुछ छाल से बनते हैं, (२) कुछ कपास की रुई से, (३) कुछ कीड़ों से, (४) कुछ जीव जन्तु के रोयों या ऊन से[1]। पुन: द्विवेदी जी ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों, वस्त्र विविधताओं और धारण करने की ऋतुओं आदि का रोचक वर्णन किया है । वस्त्र विन्यास के विषय में उन्होंने क्रम रूप से विचार किया है । नागरक के जीवन का वर्णन करते हुये उन्होंने यहां तक लिखा डाला है कि, `नागरक के वस्त्रों में सिर्फ धोती ही नित्य धोयी जाती थी बाकी कई दिन तक अधौत रह सकते थे[2]। भारत विभिन्नताओं का देश रहा है और वस्त्राभूषण में तो यह विभिन्नता विशेष रूप से परिलक्षित होती है । विदेशियों के आगमन का भी वस्त्राभूषण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा । द्विवेदी जी ने इन प्रभावों की चर्चा करते हुये स्पष्ट किया है कि अधिकांश भारतीय पहनावे बाद में विदेशी प्रभाव में आ गये । उनके अनुसार, `अचकन का मूल रूप भी कुषाणों की देन है । कुर्ता जिसका एक नाम पंजाबी है, सम्भवत: पंजाब में बसे हिन्दू यवनों की देन है । कमीज और शेमीज एक ही विदेशी शब्द के रूपान्तर हैं[3]।` महोत्सव के अवसरों पर वस्त्राभूषण के धारण करने में विशिष्टता होती थी । ऐसा होना स्वाभाविक भी है । उत्सव आनन्द मनाने का अवसर देते हैं । द्विवेदी जी ने इस ओर भी संकेत करते हुए स्पष्ट किया है कि पुरुष और स्त्री दोनों के लिये यह   था कि उत्सवों में पूरी अलंकृत

-

१- ह० प्र० ग्रन्था० ७, पृष्ठ ३४१

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३६२

३- वही , खण्ड ७ पृष्ठ ३६३

होकर जायं । केवल स्त्रियां ही प्राचीन भारत में अलंकार धारण नहीं करती थीं, पुरुष भी नाना प्रकार के अलंकार धारण करता था ।.... ये अलंकार सभी पुरुष धारण करते थे [1]। अलंकारों का स्पष्ट वर्गीकरण करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है , अलंकार तीन प्रकार के माने गये हैं -- स्वाभाविक, अयत्नज, बाह्य । लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल-किञ्चित, मोट्टायित, कुट्ट मित, विब्बोक, ललित और विहृत ये स्त्रियों के स्वाभाविक अलंकार हैं । अलंकार के ग्रन्थों में इनका विस्तृत वर्णन मिलेगा । अयत्नज अलंकार पुरुषों के और स्त्रियों के माने जाते थे । शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता, औदार्य स्त्रियों के अयत्नज सात्विक अलंकार हैं । शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर, ललित, औदार्य और तेज पुरुषों के [2]। द्विवेदी जी के अनुसार बाह्य अलंकार स्वाभाविक सौन्दर्य को ही पुष्ट करते हैं । कालिदास की साक्षी देते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, चन्द्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता है । उसी प्रकार वल्कल धारण करने पर भी शकुन्तला का रूप अधिक मनोज्ञ हो गया । तत्कालीन शास्त्रकारों का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि युवक, युवतियों को गुण अलंकार जीवित और परिकर का ज्ञान होना चाहिए । क्योंकि गुण शोभा का समुत्पादक है, अलंकार समुद्दीपक है । जीवित अनुप्राणक है परिकर व्यंजक है । ये एक दूसरे के उपकारक हैं और परस्पर के अनुग्राहक भी हैं । गुण अलंकार से ही शरीर में उत्कर्ष आता है [3]।

नख-शिख के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के विचारों और अभिरुचियों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इस विषय में उनका सांस्कृतिक बोध अति सूक्ष्म और पैना है ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ४३१-४३२

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४३२

शृङ्गार प्रसाधन :-

सामाजिक जीवन में शरीर को रमणीय बनाने की प्रक्रिया सदा से विशेष महत्वपूर्ण रही है। इस उद्देश्य से शरीर को बाह्यत: स्वच्छ रखना, उस पर लेप या चूर्ण लगाना, केश संवारना, अलंकार धारण करना आदि सुसंस्कृत नागरिक के कार्य रहे हैं। सुदूर प्राचीनकाल से ही भारत इस प्रवृत्ति में अग्रणी रहा है। शृङ्गार प्रसाधन के द्वारा अपने ऐश्वर्य, अभिजात्य और प्रतिष्ठा के प्रदर्शन करने का अभिप्राय भी रहता है। प्रकृति ने भी रूप-सौन्दर्य स्त्री-पुरुष को प्रदान किया है, वह अपने आप में भले ही सुन्दर हो, पर मानव ने कभी भी प्रकृति की स्वाभाविक देन से सन्तोष का अनुभव नहीं किया है, अन्यथा अनुलेपन गन्ध, वास, अलंकार आदि का कभी आविष्कार ही नहीं होता। सौन्दर्य साधन नित्य की प्रक्रिया थी। इसका प्रारम्भ प्रतिदिन शय्या से उठने के साथ ही प्रारम्भ हो जाता था। सर्वप्रथम मुख प्रक्षालन और दातुन की विशेष रूप से चर्चा की है। 'प्रात:काल उठकर आवश्यक मुख प्रक्षालनादि से निवृत्त होकर वह सबसे पहले दातुन से मुख साफ करता था (कामसूत्र पृष्ठ ४५)। परन्तु उसकी दातुन पेड़ से ताजी तोड़ी हुयी मामूली दातुन नहीं होती थी। वह औषधियों और सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित हुआ करती थी। कम से कम एक सप्ताह पहले से ही उसे सुवासित करने की प्रक्रिया जारी हो जाती थी'[1]।

'बृहत्संहिता तथा सुश्रुत चि   स्थान में इस विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है। द्विवेदी जी ने इस सन्दर्भ में रोचकता की वृद्धि करते हुए लिखा है कि, 'इस दातुन को तैयार करने के लिये प्राचीन नागरक के आज्ञाकारी भृत्य   रूप से रहा करते थे[2]।' द्विवेदी जी ने स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न भी उठाया है कि दांत साफ करने के लिये इतनी घटा की क्या

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८१

२- वही   , खण्ड ७, पृष्ठ ३८१

है ? इसका उत्तर देते हुए द्विवेदी जी ने वराहमिहिर के श्लोकों का उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि विधि नियमपूर्वक बनी दातुन शरीर को, सुन्दर मुख को कान्तिमय और सुगन्धित तथा वाणी को मधुर बनाती है[1] ।

शृङ्गार तभी विशेष उपयोगी होता है जबकि शरीर स्वस्थ हो । 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ चित्त का निवास होता है । स्वस्थ चित्त में ही सात्विक संकल्प पुष्ट होता है[2] । द्विवेदी जी ने शरीर के स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिये मांगल्य को भी विशेष महत्व दिया है । दातुन शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करती है तो अनुलेपन शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि करता है । द्विवेदी जी ने दातुन क्रिया के समाप्त होने पर अनुलेपन क्रिया का उल्लेख किया है । 'दातुन की क्रिया समाप्त होते ही सुशिक्षित भृत्य अनुलेपन का पात्र लेकर उपस्थित होता था । अनुलेपन में विविध प्रकार के द्रव्य हुआ करते थे । कस्तूरी, अगरु, केसर आदि के साथ दूध की मलाई के मिश्रण से ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था, जिसकी सुगन्धि देर तक भी रहती थी और शरीर की चमड़ी को कोमल और स्निग्ध भी बनाती थी[3] । प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि भांति-भांति के चन्दनों से अनुलेपन तैयार किया जाता था । द्विवेदी जी ने कामसूत्र की साक्षी प्रस्तुत करते हुए लिखा है - 'चन्दन का अनुलेपन ही अधिक पसंद किया जाता था । 'इसके अनुलेपन की उचित मात्रा में लगाने की कला प्रचलित थी, जैसे-तैसे पोत लेना भद्दी रुचि का परिचायक है । अनुलेपन उचित मात्रा में ही होना चाहिए[4] ।'

स्त्रियों द्वारा अनुलेपन की विविध विधियां अपनायी जाती थीं । पत्र रेखा लिखना कभी प्रसन्न स्त्रियों का प्रिय का   था । वसन्त में

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८२

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ३६२

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८२

४- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८२

सित चन्दन का लेप किया जाता था । स्त्रियां चन्दन के साथ प्रियंगु, कालियक, कुंकुम, कस्तूरी मिलाकर लेप करती थीं । कस्तूरी, कपूर और केसर से सुगन्धित चन्दन के सारे अंगों का अनुलेपन भी होता था । द्विवेदी जी ने 'थेर गाथा' संयुक्त निकाय का उल्लेख करते हुए लगभग साढ़े नौ किलो उबटन, जो जौ चूर्ण से नित्य तैयार होता था, के अनुलेपन का उल्लेख किया है, इसमें थोड़ी अत्युक्ति भी हो तो अनुलेपन की मात्रा का अन्दाज तो लग ही जाता है[1]।

अनुलेपन के उपरान्त केश संस्कार का महत्त्व था । प्राचीनकाल में पुरुषों के लिए दाढ़ी, मूंछ और केश रखने व या साफ करवा देने की छूट थी । स्त्रियां प्राय: लम्बे केश रखती थीं परन्तु उन्हें कटवा देने की अनुमति भी थी । द्विवेदी जी ने केश संस्कार की चर्चा करते हुए कहा है, 'बालों को धूप से धूपित किया जाता था । विलासी नागरिक अपने केशों की विशेष परवाह किया करते थे । केशों के शुक्ल हो जाने की चिन्ता बराबर बनी रहती थी । वराहमिहिराचार्य का उदाहरण देते हुए आचार्य जी ने लिखा है, 'कितनी भी माला पहनो वस्त्र धारण करो, गहनों से अपने को अलंकृत कर लो पर अगर तुम्हारे केशों में सफेदी है तो वे कुछ भी अच्छे नहीं लगेंगे । इसलिए मूर्धजों (केशों) की सेवा में चूकना ठीक नहीं है । इस कथन से निष्कर्ष हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, साधारणत: उस शुक्लतारूपी मधुरी वस्तु को आने ही न देने के लिए केशों को धूपित किया जाता था । परन्तु यह शुक्लता कभी-कभी हजार बाधा देने पर आ धमकती थी और नागरिक को प्रयत्न करना पड़ता था कि आने पर वह लोगों की नजरों में न पड़े । केशों में धूप देने के कितने ही नुस्खे पाये जाते हैं । किसी से कपूर की गन्ध, किसी से कस्तूरी की सुवास, किसी से अगरु की सुरभि उत्पन्न की जाती थी[2]।' प्रतीत

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८२

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८३

होता है कि द्विवेदी जी को जीवन के सभी मोड़ पर अपने श्वेत केशों की चिन्ता अवश्य सताती रही होगी । परन्तु यह बात भी उनके मन में अच्छी तरह बसी हुई थी कि केश तो श्वेत होने ही हैं ।

जैसा कि स्वाभाविक है, नारियां पुरुषों की अपेक्षा केश संस्कार के प्रति विशेष रुचि रखती थीं । द्विवेदी जी ने स्पष्ट उल्लेख किया है, "ग्रीष्मकाल में स्त्रियां सुगन्धित तेल या स्नान के समय व्यवहार किये जाने वाले काषाय कल्क से और जाड़ों में धूपित करके केशों में सुगन्ध लगाती थीं.. ..... इस प्रकार हर ऋतु में केशों को सुगन्ध-युक्त बनाने का विधान था । वसन्त में इतने झमेले की जरूरत नहीं महसूस की जाती होगी ... .. ऐसा कोई भी पुष्प चुन लिया जाता था जो सुन्दरियों के चंचल नील अलकों के साथ ताल मिला सके[1] । केशों के लिये सुगन्धित तेल की विधियां भी प्रचलित थीं । द्विवेदी जी ने केश रचने के अनेक प्रकारों का भी कथन किया है," बौद्ध जैन आदि साधुओं के सिर मुण्डित हुआ करते थे " पर विलासी लोग सुन्दर केश रचना किया करते थे । नाट्यशास्त्र में केश रचना के   में बताया गया है । केश संस्कार के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने दाढ़ी रखने की विविध विधियों का उल्लेख किया है ।

प्राचीन भारत में शरीर के विभिन्न अंगों को प्रसाधित करने के लिये अलग-अलग रचनायें और द्रव्य नियत थे । ऐसे अंगों में नेत्र, कपोल,अधर, नख, हथेली और पैर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । अधर तो साधारणतया ताम्बूल सेवन से लाल हो जाता था, फिर भी उतने से ही सन्तुष्ट न होकर उसके लिये अलग से रंगने का आयोजन मिलता है । अधर को लाक्षा से भी रंगा जाता था । कपोल पर पत्रलेखा चित्रित होती थी और तिलक बनाये जाते थे । मुख को पाण्डु बनाने के लिये उस पर लोध्र का पराग छिड़का जाता था । कुंकुम रेणु से कपोल रंजित होता था । मुख वास के द्वारा मुख को

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३०२

सुगन्धियुक्त बनाया जाता था जिससे मनोरम श्वास निकले[१]। अधरों की रंगाई के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा है कि किसी-किसी का अनुमान है कि अधरों को अलक्तक (लाख से बना हुआ लाल रंग का महावर) से लाल किया जाता होगा। जैसा कि आधुनिक काल में लिपिस्टिक से स्त्रियां रंगा करती हैं। फिर उन्हें चिक्कन करने के लिये उन पर सिक्थक या मोम रगड़ दिया जाता होगा[२]। द्विवेदी जी ने नखों के रंगने का भी अनुमान किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन भारत के विलासियों को नखों पर कितना मोह था उसकी मात्रा और कारणों का अनुमान हम नहीं लगा सकते। नखों के काटने की कला की चर्चा प्राय: आती है। ये त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकार की आकृतियों के होते थे। अपने सौन्दर्य और व्यक्तित्व का आकलन करने के लिए दर्पण में मुख देखा जाता था। सोने या चांदी की समतल पट्टी को घिसकर खूब चिकना किया जाता था उसी से आदर्श या दर्पण का काम लिया जाता था[३]। संस्कृति की चर्चा में रोचकता की वृद्धि करते हुए द्विवेदी जी ने बनाव शृङ्गार के सन्तुष्टि के उपरान्त सुगन्धित ताम्बूल भक्षण करने का उल्लेख किया है। वस्तुत: शृङ्गार का यह भी एक अंग था। आचार्य द्विवेदी जी ने उत्सवों में शृङ्गार, वेश-भूषा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इन अवसरों पर केवल स्त्रियां ही नहीं वरन् पुरुष भी शृङ्गार करते थे। नागरिक लोग देशकाल की परिपाटी समझ, अलंकरणों का उचित सन्निवेश जानें, सामाजिक उत्सवों के अवसरों पर सुरुचि और सुसंस्कारों का परिचय दें[४]।

वस्तुत: शृङ्गार देशकाल की प्रकृति और स्त्री-पुरुष की अवस्था के को रखकर शोभनीय होता है। इसकी अनुपस्थिति, रमणीयता की

१- २१।२७

२- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३८५

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८७

४- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४४२

कमी और उपस्थिति रमणीयता की वृद्धि करती है । स्वास्थ्य, स्वाभाविक सौन्दर्य और आयु के अनुरूप ही श्रृंगार उचित होता है ।

मनोरंजन और उसके साधन :-

प्राचीन भारत में लोगों का जीवन आजकल से अधिक सुखी था । जीवन संग्राम में आधुनिक काल की भांति उन्हें अधिक व्यस्त नहीं रहना पड़ता था, ऐसी स्थिति में लोगों ने समय-समय पर आनन्द की वृद्धि के लिये मनोरंजन के रूप में अनेक कलाओं का विकास किया था । यों तो दैनिक जीवन में मनोरंजन को सामान्य स्थान प्राप्त था । परन्तु उसका विशेष रूप पारिवारिक उत्सवों, संस्कार या अभिषेक आदि के अवसर पर दिखाई पड़ता था । भारत में प्रकृति ने भी मनोरंजन के अभ्युदय में सहयोग दिया, सभी ऋतुओं में अपनी नित्य नूतन सुषमा के द्वारा मानव हृदय को प्रफुल्ल और उल्लसित करके आनन्द मनाने के लिये प्रेरित करती थी । 'अशोक के फूल', शिरीष के फूल, कुटज, देवदारु, आम फिर बौरा गये, वसन्त आ गया है, प्राचीन भारत में मदनोत्सव, वर्षा, घनपति से घनश्याम तक, बरसो भी, सौन्दर्य सृष्टि में प्रकृति की सहायता, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद के अन्तर्गत लिखे गये विभिन्न शीर्षकों में प्रकृति प्रदत्त मनोरंजन, उत्सवों, त्यौहारों पर आयोजित मनोविनोदों आदि की विशद चर्चा मिलती है ।

आचार्य द्विवेदी जी ने मनोरंजन तथा उसके साधनों को कला विलास या कलात्मक विनोद का नाम दिया है । इसकी चर्चा करते हुये उन्होंने लिखा है, 'हमारे पास जो पुराना उपलब्ध है उसका एक महत्वपूर्ण अंश वैरागी साधुओं द्वारा वैरागी साधुओं के लिये ही लिखा गया है । नाच गान का स्थान उसमें है ही नहीं, फिर भी लोक विच्छिन्न नहीं है । किसी न किसी बहाने उसमें लोक प्रचलित कलात्मक विनोदों की बातें आ ही जाती हैं[१]।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २४५

प्रकृति के अन्य प्राणधारियों की अपेक्षा मानव अधिक विनोद-प्रिय है। यद्यपि संस्कृति की प्राप्ति के साथ ही मनोरंजन तथा उसके साधनों का उदय हुआ फिर भी इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'साधुओं द्वारा साधुओं के लिये लिखे गये साहित्य' प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। परन्तु मनोविनोद अथवा मनोरंजन के साधनों, प्रकार तथा आयोजनों के विषय में भी विपुल साहित्यिक सामग्री उपलब्ध है। क्योंकि जैसा द्विवेदी जी ने कहा भी है, लोक प्रचलित कलात्मक विनोदों की चर्चा प्राचीन साहित्य में मिलती है, 'बौद्धों और जैनों के विशाल साहित्य में ऐसे उल्लेख नितान्त कम नहीं हैं।'[1] मनोरंजन के लिये जिन परिस्थितियों का होना आवश्यक है, वे प्राचीन युग में आज की अपेक्षा अतिशय मात्रा में वर्तमान थी। नागरिकों की निश्चिन्त मनोवृत्ति, समृद्धिशीलता तथा प्रकृति की रमणीयता आदि मनोरंजन की अभिवृद्धि के लिये अपेक्षित है। प्राचीनकाल में इसका बाहुल्य और आजकल अभाव-सा दिखायी देता है। 'थोथी विलासिता में केवल धुन रहती है...... नंगी कुरुता ; पर कलात्मक विलासिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है सो कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामञ्जस्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके।'[2] आधुनिक काल में इसका अभाव है। प्राचीन भारत में एक ऐसा ही समय था जब भारतीय नागरिक कलात्मक विलास को अपने भाग्य के साथ जोड़े हुये थे। द्विवेदी जी ने इस तथ्य को भलीभांति पहचाना। उन्होंने भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण अध्यायों में कलात्मक विलासिता और मनोरंजन को स्पष्ट रूप से अनुभव किया। वे लिखते हैं - 'उस समय के काव्य,

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३६५

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३६६

नाटक, आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय-विमुग्ध होकर देखता रह जाता है । उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है, रस है । उस युग में भारतवासियों ने जीने की कला आविष्कार की थी[१] । द्विवेदी जी ने प्राचीन काल में मनोरंजन और विलास की लोकप्रियता का वर्णन नागरक की जीवन-चर्या के अन्तर्गत किया है । वे लिखते हैं, 'प्राचीन भारत का रईस प्रात:काल से सन्ध्या तक एक कलापूर्ण विलासिता के वातावरण में वास करता था । उसके विलास से किसी न किसी कला को उत्तेजना मिलती थी, उसके प्रत्येक उपभोग्य वस्तु के उत्पादन के लिये एक सुरुचिपूर्ण परिश्रमी परिचारक मण्डली नियुक्त रहती थी । वह धन का सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धनराशि के उपभोग में अपने साथ एक बड़े भारी जनसमुदाय की जीविका की भी व्यवस्था करता था' । स्पष्ट है कि द्विवेदी जी की दृष्टि से यह तथ्य भी छुपा हुआ नहीं है, कि प्राचीन भारत में मनोरंजन केवल मनोविनोद ही नहीं था, अपितु उसके द्वारा समाज को सुखद आर्थिक परिणाम भी प्राप्त होते थे ।

प्राचीन काल में व्यक्तित्व के विकास के लिये अभिनय, नृत्य, संगीत, वाद्य आदि कलाओं का ज्ञान और अभ्यास आवश्यक माना जाता था । कुछ लोग तो   से मनोविनोद सम्बन्धी कलाओं और विद्याओं को सीखते थे । प्राचीन भारत में मनोरंजन के विविध प्रारूप और साधन थे । द्विवेदी जी ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, 'गाना बजाना, नृत्य, चित्रकारी, प्रिया के कपोल और ललाट की शोभा बढ़ा सकने वाले भोज पत्रों की रचना करना (विशेषक च्छेद्य), फर्श पर विविध रंगों के पुष्पों और रंगे हुये चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (विकार), फूल बिछाना, दांत और वस्त्रों को रंगना, फूलों की सेज रचना, ग्रीष्मकालीन विहार के लिये मरकत आदि पत्थरों का गच बनाना,

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २६६

जल-क्रीड़ा में मुरज, मृदंग आदि बाजों को जलों से बजाना, कान के लिये हाथी दांत के पत्रों से आभरण बनाना, सुगन्धित धूप,दीप और बत्तियों का प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इन्द्रजाल, हाथ की सफाई, चोली आदि का सीना, भोजन और शरबत आदि बनाना, कुशासन बना लेना, वीणा, डमरु आदि बजा लेना इत्यादि कलायें उन दिनों सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक मानी जाती थी[1]। मनोरंजन के साधन और उनकी प्रक्रिया केवल मनोविनोद ही नहीं थे वरन् वे कला के रूप में स्वीकार किये गये थे। द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है, `कलाओं में ऐसी भी बहुत हैं जिनका संबंध किसी मनोविनोद मात्र से है, जैसे भेड़ों और मुर्गों की लड़ाई, तोते और मैना को पढ़ाना आदि[2]।

मनोरंजन के साधनों की लम्बी सूची और मनोरंजन की प्रक्रिया को कला के रूप में स्वीकार किया जाना यह स्पष्ट करता है कि सभ्य समाज में ही नहीं वरन् साधारण जीवन में इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। `प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद` के अन्तर्गत लिखे गये विभिन्न उपशीर्षक, नाट्यशास्त्र कलाओं के रईस, जीवनोत्तर विनोद, अन्त:पुर की क्रीड़ावाटिका, जीला विलास, ग्राम कार्यों और सरोवरों से प्रेम,अन्त:पुर का कुतूहलपूर्ण जीवन, विनोद के साथी पक्षी, उद्यान यात्रा, उत्सव और प्रेक्षागृह, पारिवारिक उत्सव, विवाह के अवसर पर विनोद ऋतु सम्बन्धी उत्सव, संगीत,मदनोत्सव, वसन्त के अन्य उत्सव, दरबारी लोगों के मनोविनोद, उक्ति वैचित्र्य, चित्रसभा में परिहास, इन्द्रजाल, मृगया विनोद, मल्ल-विद्या, वैनोदिक शास्त्र आदि में मनोरंजन के प्रकारों, विधियों, साधनों आदि का विशद रूप में वर्णन किया है। यदि इन सबका वर्णन किया जाय तो एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। द्विवेदी जी की दृष्टि

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३७६

२- वही, खण्ड ७, पृष्ठ ३७७

मनोरंजन के सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्म और वैचारिक अभिव्यक्ति बड़ी रोचक है ।

मनोरंजन और मनोविनोद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का सांस्कृतिक बोध उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट करते हुए यह कथन विशेष उल्लेखनीय है, "समूचे प्राचीन भारतीय साहित्य में जो बात विदेशी पाठकों को सबसे अधिक आश्चर्य में डाल देती है वह यह है कि साहित्य में कहीं भी असन्तोष या विद्रोह का भाव नहीं है । पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने के कारण पुराना भारतीय इस बात को एक उचित और सामंजस्यपूर्ण विधान ही मानता आया है । यही कारण है कि भारतीय चित्त इन उत्सवों को केवल थके हुये दिमाग का विश्राम नहीं समझता, वह इसे मांगल्य मानता है । नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं हैं, परम मांगल्य के जनक हैं, इनको विधिपूर्वक करने से गृहस्थ के अनेक पुराकृत कर्म से उत्पन्न विघ्न नष्ट होते हैं, पाप क्षय होता है और पुलकित फलों वाला कल्याण होता है"।[1] भारतीय जीवन दर्शन में मनोरंजन और विनोद जैसे - भौतिक विषय को उपरोक्त दार्शनिक शब्दों में अभिव्यक्त करना द्विवेदी जी की साहित्यिक प्रतिभा की पराकाष्ठा को इंगित करती है ।

भारतीय समाज में नारी

सृष्टि के क्रम की निरन्तरता स्त्री और पुरुष के संयोग से ही सम्भव हुई है । वस्तुत: स्त्री और पुरुष सभ्यता और संस्कृति के विकास के दो आधारभूत पहलू हैं । संस्कृति के विकास तथा ह्रास का सम्बन्ध निश्चय ही नारी की स्थिति से समझा जा सकता है ।

संस्कृति के विकासक्रम में यह निर्धारित करना कठिन है कि इसके विकास और वृद्धि में नारी और पुरुष में से किसका योगदान अधिक रहा

१- ह० प्र० ग्रन्था, खण्ड ७, पृष्ठ ५१६

है । कहते हैं सभ्यता का आरम्भ स्त्री ने किया था । वह प्रकृति के नियमों से मजबूर थी ; पुरुष की भांति वह उच्छृंखल शिकारी की भांति नहीं रह सकती थी[1] । इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि शारीरिक क्षमता और स्वभाव से पुरुष अधिक क्षम है । परन्तु जहां तक संस्कृति के विकास क्रम का प्रश्न है........ झोपड़ी उसी ने बनायी थी, अग्नि.. संरक्षण का आविष्कार उसने किया था, कृषि का आरम्भ उसने किया था, पुरुष निर्गंठ था, स्त्री गृहस्थ । पुरुष का पौरुष प्रतिद्वन्द्वी को[2] पछाड़ने में व्यक्त होता था, स्त्री का स्त्रीत्व प्रतिवेशिनी की सहायता में । एक प्रतिद्वन्द्विता में बढ़ा, दूसरा सहयोगिता में । सार्वभौम रूप में नारी और पुरुष का समान महत्व रहा है । यही भारत के विषय में भी सत्य रहा होगा ।

भारत में नारी की शक्ति का विकास और सदुपयोग करने का उत्तरदायित्व पुरुषों पर रहा । यह निर्विवाद सत्य है कि शारीरिक बल के आधार पर पुरुष नारियों से श्रेष्ठ होता है । इस परिप्रेक्ष्य में यह बात विशेष विचारणीय है कि क्या भारत में केवल अपने बल के सहारे ही पुरुष वर्ग ने स्त्रियों को उच्चतम स्थान और प्रतिष्ठा पाने के मार्ग में बाधाएं उपस्थित नहीं की हैं ? वास्तव में नारी की स्थिति किसी भी राष्ट्र की संस्कृति की ऊंचाई मापने के लिये एक महत्वपूर्ण मापदण्ड है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा के विषय में विवादास्पद तथ्य प्रस्तुत करता है । इसके अनुशीलन से विदित होता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति एक रूप नहीं थी । कहीं पर हम नारी को स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रूप में पाते हैं तो कहीं पर वे

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ६८६

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६८६

पिता, पति, पुत्र के नियन्त्रण और निरीक्षण में दिखायी गयी है। प्राचीन भारत में सांस्कृतिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि भारत अनेक जन-समुदायों का सम्मिश्रण है। प्रत्येक जन-समुदाय में नारी वर्ग की स्थिति के भिन्न-भिन्न स्तर थे। वैदिक आर्यों के बीच नारी की स्थिति इतनी उच्च थी कि आज बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में विश्व का सबसे अधिक सुसंस्कृत राष्ट्र भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने नारी को इतना ऊंचा स्थान प्रदान किया है। प्राचीन साहित्य और कला में स्त्रियां लौकिक तथा धार्मिक कृत्यों में पतियों के साथ दर्शित की गयी हैं, जिससे विदित होता है कि वे सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। स्त्रियों के सतीत्व और पति-भक्ति पर बहुत अधिक बल देकर उनकी स्वतन्त्रता को पर्याप्त सीमा तक संकुचित कर दिया गया था।

भारत में नारी की स्थिति विभिन्न ऐतिहासिक युगों में क्रमश: घटती-बढ़ती रही है।

वैदिक युग में -

वैदिक युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी समान रूप से आदृत थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उसका महान योग था। नववधू घर की साम्राज्ञी होती थी[1]। वह पति के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान करती थी और गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी[2]। वस्तुत: स्त्री और पुरुष यज्ञ रूपी रथ के दो जुड़े हुये बैल थे[3]। यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती

१- साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी अधिदेवृषु'।

- ऋग्वेद १०।८५।४६

२- ऋग्वेद - १।७२।५

३- तैत्तिरीयब्राह्मण - ३।७५

तथा उसके दाम्पत्य का आधा स्वरूप पूर्ण करती थी[१]।

शिक्षा के क्षेत्र में उसका स्थान पुरुषों के समान था। वह ब्रह्मचर्य के जीवन में शिक्षा ग्रहण करती थी[२]। शिक्षित स्त्री-पुरुष ही विवाह के योग्य समझे जाते थे[३]। किन्तु इस युग में स्त्रियों को याज्ञिक कार्य में अलग रखने का उपक्रम भी किया जाने लगा था। इसका कारण यह बताया गया कि वे वैदिक मंत्रों के उच्चारण के लिये उपयुक्त नहीं हैं किन्तु ऐसी स्त्रियां भी थीं जो आजीवन आध्यात्म चिन्तन में लगी रहती थीं। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी की दार्शनिक ज्ञानपिपासा बहुत तीव्र थी[४]। वैदिक समाज में पुत्री के जन्म पर दुखी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता किन्तु सामरिक वातावरण में पुत्र के जन्म की इच्छा करना स्वाभाविक था। फिर भी उपनिषद में ऐसे धार्मिक कृत्यों[५] का उल्लेख है जिसका उद्देश्य विदुषी पुत्री प्राप्त करना था।

महाकाव्य-युग-स्मृतिकाल में -

महाकाव्यों में नारी की स्थिति भी उच्च आदर्शवादी तथा प्रतिष्ठित थी। रामायण में कहा गया है -`अनन्यरूपा पुरुषस्यदारा` (पत्नी रूप में स्त्री-पुरुष का अनन्य रूप है)। महाभारत के अनुसार स्त्री-पुरुष की सर्वप्रिय सखा तथा अर्द्धांगिनी है। `माता ` गुरुतराभूमे: ` -- माता रूप में नारी भूमि से भी उच्च है, `गुरुणां चैव सर्वेषां माता परम को गुरु: `-- वह माता रूप में गुरु से भी श्रेष्ठ है। में नारी को अवध्य बताया गया है।

१- शतपथ ब्राह्मण - १।६।२।१४

२- - ११। ५। १८

३- शुक्ल यजुर्वेद - ८।१

४- बृहदारण्यक उपनिषद - २।४।३,४।५।४

५- बृहदारण्यक - ४।४।१८

रामायण में स्त्री का वध नैतिकता के विरुद्ध बताया गया है । घोर अपमान करने के विपरीत भी रावण ने सीता का वध नहीं किया । सूत्रों और स्मृतियों के काल में नारी की स्थिति दयनीय हो गई । उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक आदि सभी स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये । अब जन्म से मृत्यु तक वह पुरुषों के नियन्त्रण में रहने के लिये निर्देशित की गयी । वह क्रमशः पिता, पति, पुत्र द्वारा नियंत्रित मानी गई ।[1]

> पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
> रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

पुत्र के जन्म को शुभ और कन्या के जन्म को विषाद स्वरूप माना जाने लगा । यहां तक कि इन दोनों के जन्मोत्सव मनाने के आयोजन भिन्न हो गये । स्त्रियों का उपनयन संस्कार आवश्यक नहीं रह गया । उनकी विवाह की आयु कम कर दी गई । इसका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर पड़ा । इतना सब होते हुए भी कौटिल्य ने स्त्री को नियोग और विवाह विच्छेद का अधिकार दिया । उसने स्त्री धन की परिभाषा की और उस पर नारी के अधिकार की पुष्टि की । मेगस्थनीज ने भारत विवरण में लिखा है कि ब्राह्मण स्त्रियों को ज्ञान के लिये अनुपयुक्त मानते थे, उन्हें भय था कि कहीं वे दुश्चरित्र न हो जायं, रहस्योद्घाटन न कर दें अथवा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन्हें छोड़ न दें । इन सभी नियमों तथा निषेधों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियों की दशा अब दिनों दिन गिरती जा रही थी ।

पूर्व मध्य युग --

पूर्व मध्य युग में वह समय आता है जिसका काल सन्

१- मनुस्मृति - ९।३

कालिदास के साहित्य में पाते हैं । वस्तुत: यह विलासिता का युग था और नारी को विलासिता का साधन समझा जाने लगा । इतिहासकारों का मत है कि गुप्तकाल में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त उच्च था । कालिदास की कृतियों से विदित होता है कि कन्या को भरपूर स्नेह मिलता था । उसने कन्या को कुल की आशा कहा है[१] । स्नेह और प्रेम की दृष्टि से पुत्र तथा पुत्री में कम ही भेद था । वस्तुत: इस काल में नारियों की दशा सामान्य थी । `अमरकोष` में नारी अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है । `अभिज्ञानशाकुन्तलम्` में अनुसूया शकुन्तला के छन्दोबद्ध ग्रन्थ का अर्थ समझ गयी थी । अनेक नारी शासनभार भी धारण करती थी । वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता ने तो स्वतन्त्र रूप में शासन संचालन भी किया था ।

पत्नी और माता के रूप में नारी का पद ऊंचा था । उसे स्त्री रत्न और वीर प्रसविनी कहा गया है[२] । इस युग में सती प्रथा उल्लेख वात्स्यायन, कालिदास, शूद्रक के ग्रन्थों में मिलता है । इस काल में कुछ स्मृतिकार विधवा के सती होने के पक्ष में थे कुछ इसके विरुद्ध । ७०० ई० के लगभग रचित अंगिरस और हारीत स्मृतियां सती प्रथा की प्रशंसा करती हैं तो मेधा तिथि इसका विरोध करता है ।

मध्यकाल --

मध्यकाल में, जब भारत में मुसलमानों का आगमन हुआ और शासन की स्थापना की तो अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं आदि के साथ-साथ नारी की दशा पर व्यापक प्रभाव पड़ा । इस काल में धर्म और समाज की रक्षा के नाम पर ऐसी व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया जिससे स्त्रियों की दशा निरन्तर पतनोन्मुख होती गयी । केवल धर्म सम्बन्धी अधिकारों को

१- कुमारसम्भव - ६।१२

२- मालविकाग्निमित्रम् ५।१६

छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में उस पर नियन्त्रण को कस दिया गया । विवाह की आयु कम, विधवा विवाह को हेय ठहराकर सती प्रथा को प्रोत्साहन दिया जाने लगा । समाज में पर्दे की प्रथा व्याप्त होने लगी । परिणामतः स्त्रियों का सामाजिक जीवन अवरुद्ध होने लगा । बहुविवाह की प्रथा बढ़ गयी । विधवा का मुण्डन होने लगा । स्त्रियां लगभग शूद्रों की भांति दासी की स्थिति में हो गयीं । और मुगलकाल में नारी का प्राचीन गौरव केवल कथा-कहानियों तक ही सीमित रह गया ।

आधुनिक काल—

उन्नीसवीं शताब्दी भारत में अंग्रेजों के शासन के प्रभाव और प्रसार का काल है । अंग्रेजों ने भारत के सामाजिक जीवन को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया । इस काल में सामाजिक क्षेत्र में उदारवादी और आधुनिक दिखने वाली प्रवृत्तियां विकसित हुईं । परिवर्तित सामाजिक परिवेश में अनेक ऐसे सुधार आन्दोलन हुए जिनका लक्ष्य स्त्रियों की दशा में सुधार करके परम्परागत विषमताओं तथा अनीतियों को दूर करना था । भारतीय नारी-समाज में प्रचलित समस्त ह्रास जनित प्रवृत्तियों और कुरीतियों पर प्रहार करके सुधार लाने का कार्य राजाराम मोहन राय ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन आदि ने किया । बाल विवाह, बहुविवाह, सती-प्रथा, आदि अनेक कुरीतियों को विविध सामाजिक आन्दोलनों तथा शासकीय आदेशों के माध्यम से समाप्त करने का प्रयास किया गया । स्वतंत्रता संग्राम में स्त्रियों ने सत्याग्रह में भाग लिया, लाठियां खायी और जेल गयीं । सरोजिनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, विजयलक्ष्मी पण्डित, कमलानेहरू, गांधी आदि अनेक नारियों ने नारी समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत किया । प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । शिक्षा के उन्हें आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अवसर दिये जाने लगे । विविध अधिनियमों के प्रभाव से एक ऐसे का निर्माण हुआ जिससे नारियों की पुरुषों पर निर्भरता कम होने लगी और उन्हें स्वतन्त्र रूप से अपने

व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर मिलने लगे । आज भारत में अनेक नारियां संसद और विधान सभाओं की सदस्या हैं । वे प्रशासकीय और पुलिस सेवा में कार्य कर रही हैं । चिकित्सा, अध्यापन, उद्योग तथा अन्य उच्च पदों पर नारियां कुशलतापूर्वक कार्य कर रही हैं । वे आज अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों के लिए जागरूक हैं । किन्तु यह उनकी स्थिति का एक पक्ष है । आज भी भारतीय समाज में यत्र-तत्र देवदासी प्रथा, वेश्या वृत्ति, विधवा विवाह में संकोच, बाल-विवाह और स्त्रियों पर अत्याचार आदि देखने को मिलता है । दहेज प्रथा ने तो सम्भवतः सर्वाधिक विकराल रूप धारण कर लिया । इस दिशा में प्रभावकारी और दूरगामी प्रयास, शासकीय और सामाजिक स्तरों पर किये गये हैं । परन्तु उनसे अभी तक कोई सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हो पाया है ।

द्विवेदी जी के साहित्य के माध्यम से विभिन्न युगों में नारी की स्थिति पर विचार करने पर पता चलता है कि विकास के विभिन्न युगों में नारी की स्थिति में वृद्धि की अपेक्षा ह्रास अधिक हुआ । द्विवेदी जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, 'आधुनिक सभ्यता का सर्वाधिक कठोर वज्रपात स्त्री पर हुआ है । उसने स्त्री को न केवल स्थानच्युत किया, उसको केन्द्र से दूर फेंक दिया है बल्कि उसमें विकट मानसिक द्वन्द्व भी ला दिया है ।

विविध सांस्कृतिक सन्दर्भों में द्विवेदी जी एक युग चिन्तक प्रतीत होते हैं ।[1] उन्होंने नारी की स्थिति के विविध उतार चढ़ावों को अच्छी तरह समझकर उसके भविष्य को भी परिकल्पनात्मक अभिव्यक्ति किया है । वे कहते हैं -- आधुनिक शिक्षा ने स्त्री में भी पुरुष की भांति महत्
के भाव भर दिये हैं, वह भी पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता के लिये निकल पड़ी पड़ी है । परन्तु पुरुष की भांति उसकी स्वाधीनता में लापरवाही नहीं है । वह वर्तमान परिस्थितियों के साथ समाज का बदलना चाहती है । वह जो कुछ नया करने जा रही है उसके लिए समाज की स्वीकृति चाहती है । वह उस नयी समाज व्यवस्था को गढ़ने के लिये व्याकुल है जो स्त्री की महत्वाकांक्षा का

द्विवेदी जी के साहित्य में नारी :-

आचार्य द्विवेदी जी ने 'सतीत्व रक्षा धर्म' की चर्चा करते हुए लिखा है, 'इस मात्र बात के सत्य की रक्षा के लिये मानव बुद्धि ने कितने तरह के कवच तैयार किये, इसका ठिकाना नहीं। अपने शास्त्रों की ही जांच कीजिये। नाना तरह की व्यवस्था की गयी पर मानव बुद्धि ने हार नहीं मानी। स्वयंवर से लेकर राक्षस विवाह तक, नियोग से विधवा विवाह तक की व्यवस्था इसी मानव बुद्धि ने समय-समय पर की है। कहीं वह तलाक का समर्थन करती हुई दिखायी देती है, कहीं पर्दे की वकालत कर रही है और कहीं सह शिक्षण का प्रचार। सती प्रथा का प्रचार भी इसी रक्षा का प्रयास था। गुप्त बनन मन्दिरों का खोलना भी इसी सत्य का एकतरफा कवच समझा गया है। जगत भर के धर्मशास्त्रों ने अपनी-अपनी परिस्थिति और योग्यता के अनुसार नाना विधानों की रचना की।[1] विभिन्न समयान्तरों में तथा प्राय: एक ही समय में नारी की उच्च और निम्न स्थिति बहुत कुछ उनके उपरोक्त विचारों के अनुसार हुई। द्विवेदी जी ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, 'मनुष्य की इन्हीं बौद्धिक व्यवस्थाओं से इसकी अस्थिरता सिद्ध होती है। आज जिसे शाश्वत समझा जा रहा है। कल वह अशाश्वत समझ लिया जायेगा। इसीलिए केवल बुद्धि की भित्ति पर उठाई हुई इमारत अस्थिर होगी। पर इन्हीं व्यवस्थाओं के भीतर इसका शाश्वत सत्य रूप स्पष्ट दिखाई दे जाता है . . . इन परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं का सीधा सा अर्थ है कि जिस तरह हो सके स्त्री को धर्म का पालन करना चाहिए .. ... इस कथन का अर्थ यह कि धर्म का निर्णय सर्वदेश और सर्वकाल के विधानों को जांच करके ही करना चाहिए...... उनके मत से सतीत्व स्त्रियों के लिये जंजीर है, पुरुष ने उन्हें काबू में रखने के लिये इस आत्मघ्वंसी नीति को सिखा रखा है। इस कथन के समर्थक स्त्रियों और पुरुषों को नजदीक से देखने का अवसर इस लेखक को मिला है।[2]' इस सन्दर्भ

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड -६, पृष्ठ ३३४-३५

२- वही , खण्ड -६, पृष्ठ ३३६

में द्विवेदी जी ने बाण भट्ट की आत्मकथा (उपन्यास) में कहा है, `स्त्री शरीर तो महामाया का साक्षात् पार्थिव विग्रह है न। पूर्ण शरणागति इसीलिये सीधे नहीं हो पाती..... इसीलिये स्त्री को माध्यम खोजना पड़ता है, पातिव्रत धर्म और कुछ नहीं है बेटी, केवल पूर्ण शरणागति का दृढ़ सोपान मात्र है।[१]` द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों एवं निबन्धों में विभिन्न नारी पात्रों की क्षमताओं तथा सीमितताओं और चारित्रिक विशेषताओं का बड़ा सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। द्विवेदी जी के उपरोक्त विचारों का दिग्दर्शन भारतीय संस्कृति के विकास में स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। वैदिक युग में स्त्री स्वतन्त्र और मुक्त थी। वह सभी दृष्टियों से पुरुष के समान थी। सामाजिक, धार्मिक उत्सवों, समारोहों में वे अलंकृत होकर बिना किसी नियन्त्रण के हिस्सा लेती थी। धर्म सूत्रों और स्मृतियों के युग में नारी का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया। द्विवेदी जी ने `वधू का शान्त शोभन रूप` नामक उपशीर्षक में इस प्रकार वर्णन किया है, `यद्यपि वह अवरोध में रहती तथापि पूजा-पाठ और अपने विश्वास के अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानों के समय वह बाहर निकल सकती थी[२]।

उपरोक्त विचार-विमर्श से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि नारी के प्रति दो दृष्टिकोण अपनाये गये थे। कभी उसे बहुत हीन कहा गया है और कभी उसकी उपासना करने की प्रस्तावना की ज गयी। द्विवेदी जी के नारी के प्रति दृष्टिकोण से यह बात स्पष्ट होती है कि हीन और उच्च दोनों पक्षों का प्रमुख कारण वस्तुत: यह है, `स्त्री का हजारों वर्ष का अनुभव है कि पुरुष उसे गलत समझता है... . पर वह स्त्री को चूंकि अंधकार में कुछ अज्ञात रखना चाहती है, इसलिये स्वभावत: भी स्त्री के प्रति होने वाले अविचारों के विषय में उसका रुख अधिकतर छिपावटों

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ४०२

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ५३१

के रूप में प्रकट होता है । कभी वह समाज व्यवस्था पर, कभी पुरुष जाति पर, कभी बाह्य घटना पर दोषारोपण करती है[1]।

द्विवेदी जी स्त्री को एक रहस्य मानते हैं, 'पुरुष सब कुछ प्रकट था, स्त्री का सब कुछ रहस्यावृत । पुरुष जब उसकी ओर आकर्षित हुआ तब उसे गलत समझ कर, जब उससे भागा तब भी गलत समझकर, उसे स्त्री को गलत समझने में मजा आता रहा । अपनी भूल सुधारने की कभी उसने कोशिश नहीं की[2]। द्विवेदी जी के अनुसार यह बात अधिक समय तक न बनी रही । 'अचानक व्यावसायिक क्रान्ति हुई । कृषि-मूलक सभ्यता बिगड़ गयी, परिवार और वर्ग की भावना ह्रास होने लगी, नगर स्फीत होने लगी और वैयक्तिक स्वाधीनता जोर मारने लगी..... स्त्री रहस्य रहे यह बात इस युग को पसन्द न आयी ; न पुरुष को न स्त्री को । पुरुष ने भी स्त्री को समझने की कोशिश की और स्त्री ने भी उसे इस कार्य में सहायता पहुंचाई ।[3]

द्विवेदी जी के इन विचारों का अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार देखने को मिलता है । उन्होंने नारी की स्थिति की समीक्षा करते हुये लिखा है -- 'समाज को स्त्री ने जन्म दिया था । दलबद्ध भाव से रहने के प्रति निष्ठा होने के कारण वह उसी (समाज) की अनुचरी हो गयी । पुरुष यहां भी आगे निकल गया, वह समाज से भागना चाहता था । स्त्री ने अपना सब त्याग कर उसे समाज में रखा, उसके हाथ में समाज की नकेल दे दी । पुरुष समाज का विधायक हो गया । इतिहास उलट गया । जमाने की गलतियों की मात्रा बढ़ती गयी ; पुरुष अकड़ता गया । स्त्री दबती गयी । आज वह देखती है कि उसी के बुने जाल ने उसे बुरी तरह

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड १०, पृष्ठ १८७

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १८७

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १८७

जकड़ डाला है। वह उसे प्यार भी करती है, वह उससे मुक्त भी होना चाहती है। यही द्वन्द्व है। यही तपस्या है। यही विरोधाभास है। वह फिर एक बार इसे अपने हाथों खोलकर फिर से बुनेगी ? उचित तो यही था, पर हमारी देवियां इस विषय में मौन हैं[1]। द्विवेदी जी के दृष्टिकोण में नारी के उच्चतर की अभिव्यक्ति मिलती है। उन्होंने उन्हीं शास्त्रकारों को उल्लिखित किया है जो नारी के पूज्यनीय रूप को संस्थापित करते हैं, 'वराहमिहिर ने दृढ़ता से कहा था - ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा बहुमूल्य रत्न संसार में नहीं बनाया है, जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है धर्म है, पुत्र सुख है। इसलिये उन लोगों को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए जिनके लिये मान ही धन है[2]।' मनु के विचारों को उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, 'वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणवती है।..... स्त्री के रूप में हो या माता के रूप में, 'स्त्रियां ही पुरुषों के सुख का कारण हैं'। इन कथनों की समीक्षा करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है 'इस महत्वपूर्ण घोषणा से प्राचीन भारत के सद्गृहस्थों का मनोभाव प्रकट होता है। वे शक्ति संगम तन्त्र से ' ' मैं शिवजी के इस कथन से सहमत हैं कि नारी ही त्रैलोक्य की माता है। वही त्रैलोक्य का प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवन का आधार है और वही शक्ति की देह है। उसके समान न कभी कुछ था न हो है और न होगा, वहीं से भारतवर्ष का समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्भासित हुआ है। यह छोटा सा वाक्य द्विवेदी जी के नारी सम्बन्धी विचार का गागर में सागर का परिचायक है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में द्विवेदी जी ने स्पष्ट लिखा है - साधारणत: जिन स्त्रियों को चंचल और कुछ धृष्टा माना जाता है, उनमें

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ १६३

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४५०

एक दैवी शक्ति भी होती है । यह बात लोग भूल जाते हैं, मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री शरीर को देव मन्दिर के समान पवित्र मानता हूं[1]। परन्तु वे इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं कि नारी की स्थिति बड़ी दुविधा में रहती है, `स्त्री का जीवन दूध भरा कटोरा है । इधर-उधर से थोड़ी भी छींट कहीं से पड़ जाय तो दूध ही फट जाता है । इसलिये उसे सावधानी से चलना चाहिए[2] . . . घर में कोई भी स्त्री मर्यादा से बाहर चली जाय तो परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है[3] . . . . जिस तरह मोह के आकर्षण में खिंची जा रही हो, वह स्त्री की सबसे बड़ी विफलता है, परन्तु स्त्री जन्मजात से उधर ही खिंचती है`। . . . कुण्ठा तो नारी को विधाता ने दे ही दी है । नारी की सबसे बड़ी विशेषता यह कुण्ठा ही है, यही उसकी शक्ति है । नारी अपने को सबसे छिपाती है स्वयं अपने आप से भी..... यहां तक कि वह परमात्मा से भी अपने को छिपाती है`[4]।

द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथनों से उनके नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का पता तो चलता ही है साथ ही उनके इन कथनों में नारियों के लिये एक मूर्धन्य साहित्यकार का चेतावनी भरा स्वर भी है ।

वे सामाजिक जीवन की आधार शिला नारी को परिवार में सर्वप्रमुख आधार मानते हैं -- `परिवार के केन्द्र में विद्यमान स्त्री का आचरण पूरे परिवार और कुटुम्ब को प्रभावित करता है । स्त्री का धार्मिक होना केवल वर्तमान को ही नहीं वरन् भविष्य को भी उज्ज्वल बनाता है`। वे ये चेतावनी भी देते हैं कि `जिस घर में अधार्मिक प्रकृति की स्त्रियों का प्रभुत्व हो जाता है उसमें नित्य कलह होता रहता है आगे चलकर वह टूटकर नष्ट हो जाता है`[5]। द्विवेदी जी ने नारी का धार्मिक होना एक आवश्यक गुण माना

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ २८
२- वही , खण्ड २, पृष्ठ १९२
३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३८४
४- वही , खण्ड १, पृष्ठ ४२५
५- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३८५

है - 'देश और समाज की उत्तमता और शक्ति के मूल में स्त्रियों का धर्मसम्मत आचरण है । उसके अभाव में सारा समाज और राष्ट्र बर्बर हो जाता है । धार्मिक आचरण सच्चरित्रता, रूढ़िवादिता का अभाव आदि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि जिस गृह में धार्मिक स्त्री वास करती है, वह गृह सही दिशा में उन्नति और समृद्धि करके सारे समाज और राष्ट्र को सुखी और समृद्धि करता है । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया है - 'सदा ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि उचित शिक्षा की व्यवस्था करके ऐसी नारियों को समाज में अधिकाधिक परिष्कृत बनाया जाय और परम्परा से प्राप्त आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाय '[1]

द्विवेदी जी के लेखन में गणिकाओं के प्रति भी आदर और सम्मान का भाव देखने को मिलता है । विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों का उल्लेख करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है -'गणिका वस्तुत: समस्त गण (राष्ट्र) की सम्पत्ति मानी जाती थी । बौद्ध साहित्य में इस बात का प्रमाण खोजा जा सकता है ।[2]' गणिकाओं के प्रति अभिव्यक्त आदर में भी उनके प्रति कितना अपमान निहित होता था यह बात भी द्विवेदी जी की दृष्टि से छुपी नहीं है, 'गणिकाएं जितने भी आदर के साथ क्रीड़ा शाला में बुलायी जाती हों वे नारीत्व के अपमान का ही प्रतीक बनी रहीं । कभी-कभी राजाओं और रईसों की ओर से उनकी भयंकर दुर्गति की जाती है, 'अजन्ता की दूसरी गुफा में एक अत्यन्त कारुण चित्र है जिसमें खड्गपाणि[3] राजा क्रोध कषायित नेत्रों से देखता हुआ एक नर्तकी को दण्ड दे रहा है '। पुनर्नवा उपन्यास में मृणालमंजरी को राज्य सभा में न जाने पर राजा द्वारा दण्ड दिये जाने की चर्चा है ।

द्विवेदी जी नारी को सृष्टि की महानतम रचना मानते हैं, 'स्त्री

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६१

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४६५

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४६५

देह प्रकृति का साक्षात् प्रतिनिधि है । वह विधाता की सिसृक्षा का मूर्तिमान विग्रह है, वह जगत प्रवाह का मूल उत्स है[१] . . . धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शान्ति सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते । नारी देह वह स्पर्श मणि है जो प्रत्येक ईंट पत्थर को सोना बना देती है[२]। द्विवेदी जी ने सदैव स्त्री को सम्मान की दृष्टि से ही देखा है, 'किसी देश की सभ्यता और धर्मविचार की कसौटी उस देश की स्त्रियों का सद्भाव और निश्चिन्तता है[३]।'

द्विवेदी जी ने स्त्री और पुरुष के सहयोग की अपेक्षा की है । महत्वाकांक्षा के भावों से युक्त नारी, आज पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता तो करने लगी है परन्तु स्वाधीनता के क्षेत्र में वह अभी भी पुरुष से पिछड़ी हुई है । नारी इस तथ्य से भी परिचित है और यथा वह वर्तमान परिस्थितियों के साथ समाज का सामंजस्य चाहती है[४]।

स्त्री के प्रति द्विवेदी जी के उपर्युक्त दृष्टिकोण से निष्कर्ष रूप में यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि वे समाज के सांस्कृतिक उत्कर्ष को नारियों के किये जाने वाले सम्मान के ऊपर आधारित मानते हैं । उनके ये विचार भारतीय संस्कृति की समृद्धि को स्पष्ट करते हैं ।

-0-

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३६२

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ १६१

३- वही , खण्ड २, पृष्ठ २६८

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक, आर्थिक चिन्तन

राजनीतिक-आर्थिक चिन्तन :

विश्व में राजनीतिक तथा आर्थिक दर्शन का विकास सामयिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर हुआ था । मत्स्य न्याय से पीड़ित समाज, जिसमें हर सबल निर्बल को दबा लेता था, आत्मरक्षा के लिये ऐसी व्यवस्था स्वीकार करने को विवश हुआ जिसमें कोई मुखिया हो और वही जनता को स्वीकार हो तथा नियमों के अनुसार उस पर नियन्त्रण रख सके । इस व्यवस्था में जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन था । हो सकता है प्रारम्भ में बहुत दिनों तक लोग मिल जुलकर रहते रहे हों और सब काम एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखकर करते रहे हों । द्विवेदी जी ने इस व्यवस्था की कल्पना के अन्तर्गत की है । मनु ने सम्भवत: इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा है कि --

'न राज्यं न च राजासी न दण्डो न च दाण्डिक:
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा: रक्षन्ति स्म परस्परम् ।'

किन्तु जनसंख्या की वृद्धि के साथ समस्यायें बढ़ती गयीं और राजतन्त्र अनिवार्य आवश्यकता बन गयी । ऐसे राजतन्त्र की कल्पना 'बाणभट्ट की आत्मकथा', चारुचन्द्रलेख पुनर्नवा तथा अनामदास का पोथा, उपन्यासों में दृष्टव्य है । फिर भी एक ऐसा वर्ग बना रहा जिसने अपने को राज्य के बन्धनों से मुक्त बनाये रखा । वह वर्ग था चिन्तकों का, दार्शनिकों, तपस्वियों, श्रोत्रियों का । इन्होंने उद्घोषित किया --

'अस्माकं सोमो राजा'। अपने उपन्यासों में द्विवेदी जी भी इसी प्रकार के चिन्तक प्रतीत होते हैं । फिर भी राजतन्त्र मजबूत होता गया । राजाओं की परम्परा ने भारत में नृपतन्त्र की प्रतिष्ठा तो बढ़ाई ही उसकी जड़ें भी गहरी कर दीं । उपन्यासों में द्विवेदी जी ने गणतन्त्र की चर्चा की है परन्तु उनके नायक नृपतन्त्र के सम्राट की अपेक्षा निर्बल दिखते हैं । यद्यपि बौद्धकाल में अनेक गणतन्त्र थे और उनमें प्रजातन्त्र के बीज भी विद्यमान

थे फिर भी उन्हें अभिजात तन्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा । इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने चाणक्य से लेकर कालिदास तक सभी विचारकों को राजतंत्र का समर्थक वर्णित किया है । सम्भवत: राजतन्त्र-व्यवस्था में मानवतावादी मूल्यों की अप्रतिष्ठा और उपेक्षा के कारण द्विवेदी जी ने उपन्यासों में विभिन्न चरित्रों के माध्यम से मानवतावादी चिन्तन की पुष्टि की है ।

द्विवेदी जी की विचारधारा का आधार और मन्तव्य मानवतावाद है । लगता है कि मानवतावाद से ही उनकी मस्तिष्क शिराओं में विचारों का संचार होता है और उनको कुछ कर गुजरने की उमंग पैदा होती है । जब भी और जहां कहीं भी उनके मानवतावाद को कोई ठेस पहुंचती है तो वे बेतरह से `बाणभट्ट` की तरह चिन्तित और उद्वेलित होने लगते हैं - `यह घिनौना दृश्य संसार में बार-बार दिखायी देगा, महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिये हैं, भ्रातृभाव और जीव दया के बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिली है । मैं निराशा से कातर हो उठा हूं क्या यह कभी बन्द नहीं होगा ? मेरा मन कहता था कि जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुषदल का प्रादुर्भाव रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा । परन्तु क्या कभी यह भी सम्भव है कि मानव समाज में राज्य न हो, सैन्य संगठन न हो, सम्पत्ति मोह न हो`।[१] यदि विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसी अवस्था अराजकतावादी राजदर्शन में ही सम्भव है । डी० एच० कोल महोदय ने अराजकतावाद की परिभाषा बहुत कुछ द्विवेदी जी के उपर्युक्त स्वर में ही किया है । वे कहते हैं, `एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में सामाजिक संगठन के उन सब रूपों के पूर्ण विरोध से आरम्भ होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं । एक आदर्श के रूप में का अभिप्राय उस स्वतन्त्र समाज से है जिसमें बाध्यकारी तत्वों का लोप हो

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ १०६

चुका हो[१]। अथवा उनका यह मानवतावाद राजनैतिक चिन्तन में प्लेटो के आदर्शवाद को संस्तुति करता है। उनके विचारों का समग्र अनुशीलन इस दृढ़ राजनीतिक निष्कर्ष की ओर इंगित करता है जिसमें उन्होंने यह स्पष्टोक्ति की है कि, 'सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को -- व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को -- आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक शोषण से मुक्त करना होगा.......
अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणप्रद और जीवनप्रद हो सकते हैं[२]। साहित्य के मानवतावाद का संस्कार करते हुए द्विवेदी जी ने वैयक्तिक स्वाधीनता को मानवतावाद को निखरा हुआ रूप बताया है।

वस्तुत: वैयक्तिक स्वाधीनता के विचार ने पाश्चात्य साहित्य में अद्भुत क्रान्ति ला दी थी परन्तु इस क्रान्ति ने पाश्चात्य देशों को साम्राज्यवाद जैसी घिनौनी होड़ में ला खड़ा किया। 'इसी मनोवृत्ति ने उस राष्ट्रीयतावाद को जन्म दिया जिसकी कोख से साम्राज्यवाद नाम का घिनौना बच्चा पैदा हुआ... .. इसलिये साम्राज्यवाद ने इसी नवीन मानवता धर्म का सहारा लिया जो उसकी मजबूती और कमजोरी दोनों का हेतु बन गया। एक ओर जहां सुसंस्कृत व्यक्ति का चित्त, उड़ान लेकर आसमान छूना चाहता था वहीं लोभी लुटेरों का दल उसे फन्दे में फांसकर नीचे की ओर खींच रहा था। ऐसा ही हुआ करता है। जब-जब चैतन्य आसमान की ओर मुंह उठाता है तब-तब जड़त्व उसे नीचे की ओर खींचता है[३]।

द्विवेदी जी के मानवता सम्बन्धी उपरोक्त विचार हमें उनके आर्थिक-राजनीतिक चिन्तन की ओर ले जाते हैं।

१- द० मार्क्सिज्म एण्ड अनार्किज्म - डी० एच० कोल, पृष्ठ २८७
२- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ३ और खण्ड ५, पृष्ठ ५३१, ११६
३- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ११८

द्विवेदी जी का राजनीतिक चिन्तन :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक आदर्श -

द्विवेदी जी के साहित्य का सम्पूर्ण अनुशीलन करने पर इस तथ्य का बोध होता है कि वे किसी भी दृष्टि से एक विशुद्ध राजनीतिक चिन्तक नहीं कहे जा सकते । उनकी जो भी बद्धमूल धारणाएं हैं वे उन्हें बहुत अधिक सीमा तक प्राचीन भारतीय राजनीतिक आदर्शों से प्रेरित करती हैं । यहां पर यह बात स्पष्ट कर देना अधिक उचित होगा कि वे कोई आदर्शों से बंधे हुये नहीं हैं । उन्होंने इस बात को स्वयं ही स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मरे हुए बच्चे को लिपटाये रहने वाली बंदरिया आदर्श नहीं हो सकती । अपने उपन्यासों में उन्होंने राजतन्त्र गणतन्त्र तथा प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में विभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है । इस चित्रण में उनके राजनीतिक चिन्तन की झांकियां मिलती हैं । `राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है । असि धारा से भी अधिक दुर्गम है । विद्युतशिखा से भी अधिक चंचल है ...... इतिहास साक्षी है कि देखी सुनी बात का ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है । सत्य वह है, जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है`।[१] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी राज्य और राजा के उद्देश्य और मन्तव्य में कल्याणकारी राज्य की प्राचीन भारतीय परम्परा से सहमत हैं । राजा के आदर्श के सन्दर्भ में उपन्यास बाण भट्ट की आत्मकथा में वे कहते हैं `महा यक्ति अनुरागिता ही राजा का यथार्थ आदर्श है..... जिसे अपनी व्यक्तिगत प्राप्ति-हानि की चिन्ता नहीं होती और पूरे समाज का अभ्युदय ही लाभ दिखायी देने लगता है, वही यथार्थ राजा है, वही समाज का नेतृत्व भी कर सकता है`।[२] राजा के उत्तरदायित्व की भारतीय परंपरा

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ १७

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ५२०

का उल्लेख करते हुए कहते हैं, `चक्रवर्ती वह है जो कोटि-कोटि व्याकुल और त्रस्त जनता का रक्षक बनने का उत्तरदायित्व लेता है, भारतवर्ष में यही परम्परा रही है। चक्रवर्ती राज्य की सीमाओं में बंधा नहीं रहता, वह राजकुल का भोक्ता नहीं, दीन, दरिद्र, दलित का रक्षक या गोप्ता होता है।[1] द्विवेदी जी के ये विचार इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य को एक आवश्यक और महत्वपूर्ण साधन तो माना गया है साथ ही राज्य को धर्म और अर्थ का फलदाता बताया गया है। शुक्र ने भी राज्य को इसीलिए नमस्कार किया है क्योंकि राजा और राज्य ही त्रिवर्ग का फलदाता है।

`अर्थ धर्माति फलाय राज्याः नमः `।[2]
नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय --
सामादि चारु पुष्पाय त्रिवर्ग फलदायिनी।।[3]

आचार्य द्विवेदी प्राचीन भारतीय राज्य सम्बन्धी उस विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होते हैं जिसके अन्तर्गत मोक्ष की प्राप्ति, अराजकता का अन्त तथा दण्ड प्रयोग के लिये राज्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया और राजा के उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया गया। प्राचीन भारतीय राजनीतिक मान्यता के अनुसार राज्य शान्ति सुव्यवस्था, न्याय तथा सुरक्षा का प्रतीक है। जीवन के तीन आदर्शों - यथा -- धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति राज्य का मूल उद्देश्य था। इनमें से प्रथम उद्देश्य का सम्बन्ध वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता से था, दूसरे का आर्थिक कल्याण से, तीसरे का जीवन के सुख और भोग से था। राज्य के द्वारा दण्ड का प्रयोग केवल `धर्म `अर्थात्

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३१७

२- नीति वाक्यामृत - सोमदेव, पृष्ठ

३- शुक्रनीतिसार

शान्ति, न्याय तथा कर्तव्य,`अर्थ` अर्थात् आर्थिक कल्याण और `काम` अर्थात् सामाजिक कल्याण तथा सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की रुचि को उन्नत बनाने के आदर्शों की प्राप्ति के लिये किया जाता था। द्विवेदी जी ने राजा की चर्चा करते हुए अपने उपन्यास `चारुचन्द्रलेख` में लिखा है `राजा की नितान्त व्यक्तिगत बात भी जनता के दुख कष्ट का कारण बन जाती है। इसलिये उसे बहुत सावधान रहना चाहिए[१]। स्पष्ट है कि द्विवेदी जी राजा के उस भव्य रूप से भलीभांति परिचित हैं जो प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में व्याप्त था। प्राचीन भारत में राजपद को देवत्व माना गया था न कि राजा को। इसी कारण से राजा के व्यक्तित्व को राज्य में समाहित माना जाता था। उसके सुख दुख के साथ ही प्रजा का सुख-दुख भी सम्बद्ध माना जाता था।

`अनामदास का पोथा` उपन्यास में द्विवेदी जी राजा को सदैव जागरूक रहने तथा जनकल्याण के प्रति सचेष्ट रहने की प्रस्तावना करते हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, `राजा तो कर्मचारियों की ही आंख से देखता है....... राजा जब तक स्वयं जागरूक न हो तो राज्य कर्मचारी शिथिल हो जाते हैं, मुस्तैदी से काम नहीं करते। राजा को चिन्ता में डालने की आड़ में वे स्वयं निश्चिन्त हो जाते हैं। राज्य कर्मचारियों को निरन्तर कसते रहना पड़ता है[२]। इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी के राजनीतिक चिन्तन में राज्य, राजा तथा राज्य के विभिन्न अंगों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे राज्य का, राजा का सर्वोपरि आदर्श धर्म मानते हैं और प्रश्नकर्ता के रूप में पूछते हैं, क्या अधिकतर सामाजिक उलझनों का कारण यही नहीं है कि शासन का जो सर्वोपरि संरक्षक है, वह धर्म के बारे में उदासीन है।.. पालक का व्यक्तिगत जीवन धर्माचार के विपरीत

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३४०

२- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३८०

होने से क्या अनर्थ का कारण नहीं बना ?....... सम्राट धर्म का संचालक होता है । इस कथन का अर्थ है कि सम्राट अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का नियामक होता है[१]। प्राचीन भारतीय राजनीतिक अवधारणा में धर्म की जो व्याख्या की गयी है, द्विवेदी जी का मानवतावाद उसी से उत्प्रेरित है। ...... जनता ही वास्तविक राज्य होती है[२]।

आधुनिक राजनीतिक विचारधारा :-

आधुनिक युग समस्या प्रधान है और समस्या भी एकदेशीय नहीं है । वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण जहां एक ओर भौतिक सम्भावनाएं पुष्ट होती जा रही हैं वहीं मानसिक चिन्तायें बढ़ती जा रही हैं-- व्यक्तिगत क्षेत्र में भी और राजनैतिक क्षेत्र में भी । प्राचीन भारतीय आदर्शों को अब बोझ माना जाने लगा है । प्राचीन युग के मनुष्य के मन की अपेक्षा आधुनिक मनुष्य के मन पर अधिक बोझ है । आज मनुष्य केवल अपने परिवार और अपनी-अपनी जाति की चिन्ताओं से ही कातर नहीं है, उसके सामने सारे संसार की समस्याएं हैं कोई भी समस्या एक देशीय नहीं है.......... 'आज हमारे समाज में नये उपादान और नये अभाव पैदा हो गये हैं...... लेनिन और जनयात सेन, क्रोपाटकिन और गांधी, आइन्सटाइन और रवीन्द्रनाथ अपने-अपने देश की दुढ़ सीमाओं को पार कर चुके हैं ; राजनीति में हम राजा को छोड़ चुके हैं लेकिन प्रजा का राज्य अब भी आसमान का फूल है[३]।' द्विवेदी जी के ये विचार हमें प्राचीनता से आधुनिकता में ले जाते हैं । यह सही है कि राजनीति और अर्थशास्त्र आज राष्ट्र और देश की

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ २८५-८६

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ५१५

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १७५

सीमाओं में बंधे हुये नहीं हैं । वस्तुत: आज अर्थ ही राजनीति का आधार है । द्विवेदी जी कहते हैं, 'संसार ने राजा का आदर्श छोड़ दिया । प्रजा के शासन में उससे न रहा जा सका । संसार के अधिकांश सभ्य देश आज न तो राजा के हैं न प्रजा के । सारी सत्ता दो एक स्वेच्छाचारी व्यक्तियों के हाथ में है'।[1] यद्यपि द्विवेदी जी के इन उल्लेखों में अभिव्यक्त विचार पढ़ने में साधारण से लगते हैं परन्तु उनमें आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के गूढ़ तत्व अन्तर्निहित हैं । वस्तुत: आधुनिक युग का प्रारम्भ राष्ट्रीयतावाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, साम्यवाद की अवधारणाओं से हुआ । यद्यपि द्विवेदी जी ने इन सबके विषय में खुलकर चर्चा तो नहीं की है । परन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य में इन धारणाओं से सम्बन्धित विचार यत्र-तत्र मिलते हैं ।

वस्तुत: आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन में पूर्व और पश्चिम की बात की जाती है परन्तु द्विवेदी जी इसे एक मनोरंजक बात मानते हैं, वे कहते हैं कि यह एक मनोरंजक बात है कि भारत के प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे । पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म प्राण है, पश्चिम व्यवसायी है 'मैटर आफ फैक्ट' है (आधिभौतिक) है ।[2] पूर्व और पश्चिम के राजनैतिक चिन्तन को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं असल में पश्चिम का अर्थ कुछ आधुनिक और व्यवसायिक रूप में होने लगा है और पूर्व का प्राचीन और अस्त-व्यस्त अर्थ में............ असल बात यह है कि मनुष्य का मन सर्वत्र एक है । राजनीतिक, आर्थिक आदि कारणों से उस एक मन के प्रकाशन का बाह्य आवरण चाहे कितना भी भिन्न क्यों न हो, भीतर से वह एक है...... .. हमारा मुख्य वक्तव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम या भारतीय अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ १०५

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २१६

अर्थहीन परिवेष्टिनों से अपने को घेरकर नहीं रखना चाहिए।[1] इस प्रकार द्विवेदी जी भारतीय परिवेश में मानवतावाद का अवलम्बन लेकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक चिन्तन में प्रवेश करते हैं।

साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीयतावाद--

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीयतावाद ने चिन्तकों की विचारधारा को पर्याप्त प्रभावित किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पूंजीवाद और साम्यवाद, साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयतावाद से ही उत्पन्न हुये हैं। द्विवेदी जी ने इस बात को साहित्यिक चिन्तन के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया है। उनका विश्वास है कि मानवतावाद का आदर्श मानव को शोषण और बन्धन से मुक्त करके इसी लोक में सुखी और समृद्ध बनाना है। उनके अनुसार साहित्य में मानवतावाद ने वैयक्तिक स्वाधीनता की स्थापना की और इसी कारण योरोपीय साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये, किन्तु वैयक्तिक स्वाधीनता की अभिव्यक्ति राजनीतिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को उभाड़ने में फलीभूत हुई।[2]

वैयक्तिक स्वाधीनता के आन्दोलन को व्यवसायिक क्रान्ति ने जन्म दिया। यह कोई बुरी बात नहीं थी परन्तु इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इस भावना ने पाश्चात्य देशों में ी व्यवस्था को मटियामेट कर दिया। अब सत्ता और धन का केन्द्रीकरण होने लगा। इसके फलस्वरूप शोषक और शोषित के बीच वैमनस्य बढ़ने लगा। शोषक वर्ग ने राष्ट्रीयतावाद का नारा देकर शोषित वर्ग में स्वदेशी और कट्टर राष्ट्रीयतावाद की भावना उत्पन्न की। इसके फलस्वरूप व्यवसायिक क्रान्ति में उत्पादन में वृद्धि की परन्तु अतिरिक्त उत्पादन की खपत के लिये अपेक्षाकृत कम विकसित देशों की ओर दृष्टिपात किया, इससे उपनिवेशवादी प्रवृत्ति का नग्न ताण्डव

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २१६
२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ११८

होने लगा । एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप इस ताण्डव के केन्द्र बने । यह विषम स्थिति निश्चय ही विश्व को एक महान संघर्ष की ओर ले जा रही थी । द्विवेदी जी ने ऐसे विचार अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, थोड़े समय तक ईर्ष्या भीतर ही भीतर पलती रही, फिर एकाएक उसका विस्फोट महायुद्ध के रूप में हुआ । समृद्धिशाली राष्ट्र क्रुद्ध भेड़िये की तरह एक दूसरे पर टूट पड़े । सब की पूंछ में कोई न कोई देश बंधा था । देखते-देखते इस धरती की पीठ पर सम्पूर्ण संसार भयंकर जिघांसा से मत्त होकर कूद पड़ा । कुछ हारे, कुछ जीते, कुछ बुरी तरह बर्बाद हो गये[1] ।

मानवतावाद की बात करते समय द्विवेदी जी ने मनुष्य के जिन आदर्शों के पालन की बात कही है वे चाहे साहित्यिक सन्दर्भ में खरे उतरें परन्तु राजनैतिक सन्दर्भ में वे आधुनिकतम राजनीतिक चिन्तन से मेल नहीं खाते । वे स्वयं कहते हैं कि   से वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना उत्पन्न हुई और इस मनोवृत्ति से राष्ट्रीयतावाद की भावना दृढ़ हुई जिसकी कोख से साम्राज्यवाद नाम का घिनौना बच्चा पैदा हुआ..... ..[2].. इसलिये साम्राज्यवाद ने इस नवीन मानवता धर्म का सहारा लिया । वस्तुस्थिति तो यह है कि साम्राज्यवाद ने   की धज्जियां उड़ा दी । चाहे कितने बहाने किये जायं और नैतिकता का चाहे जितना ढिंढोरा पीटा जाय, यथार्थ यह है कि अधीन देशों पर शक्ति और हिंसा के बल पर विदेशी राज्य स्थापित करना ही साम्राज्यवाद है । दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार साम्राज्यवाद मत्स्य न्याय के ऊपर टिका हुआ है । सबल पशु या प्राणी निर्बल को नष्ट करके या उसे दास बनाकर ही जीवित रहते हैं । विशाल वट वृक्ष के नीचे कभी कोई पेड़ नहीं उग सकता । शक्तिशाली जातियां युद्ध में पराजित जातियों को अपना दास बना लेती हैं । मा   ने इसी दार्शनिक सिद्धान्त को

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड - ३, पृष्ठ ५०५

२- वही   , खण्ड- ५ , पृष्ठ १९८

पुष्टि की । द्विवेदी जी इस बात को प्रकृति का नियम मानते हैं । वे कहते हैं, `जब-जब चैतन्य आसमान की ओर सिर उठाता है, तब-तब जड़त्व उसे नीचे की ओर खींचता है..... .. जो हो यह द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है और जब तक सृष्टि है तब तक चलता रहेगा[१]।` परन्तु द्विवेदी जी एक साहित्यकार हैं और उनका मत है कि साहित्यकार को दूर तक देखना चाहिए[२]। उन्होंने दूर तक देखा और मानवतावाद के व्यक्ति पक्ष की आलोचना करने वालों को उत्तर भी दिया है -- न आज तक जड़ ने अपना हठ छोड़ा है और न चेतन ने अपनी आन तोड़ी है ।......... . द्वन्द्व आज भी जारी है लेकिन चेतन परास्त नहीं हुआ है......... होगा भी नहीं[३]।

मानवतावाद से उत्पन्न व्यक्तिवादी विचारधारा के दुष्परिणामों से परिचित होते हुये द्विवेदी जी ने सामाजिक मानवतावाद की बात कही है -- सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है । मनुष्य को...... व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को -- आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा[४]। इस प्रकार द्विवेदी जी का मानवतावाद समाजवाद और साम्यवाद की ओर प्रवृत्त होता है । द्विवेदी जी का समाजवादी चिन्तन हमें उनके इस कथन में मिलता है जिसमें उन्होंने कहा है, `अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है-- सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का, अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी[५]।` उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को साहित्य के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है और निष्कर्ष स्वरूप लिखा है, `इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ ११८

२- वही , खण्ड ३, पृष्ठ १५४

३- वही , खण्ड ५, पृष्ठ १२०

४- वही , खण्ड ५, पृष्ठ ११६

५- वही , खण्ड ३, पृष्ठ ५३१

की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ शास्त्र या ईश्वर की निर्भ्रान्त आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता......... इसलिये साहित्यिक वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है ।[१] परन्तु उनकी दृष्टि में वे साहित्यकार भ्रमित हैं जो समाजवाद से उत्प्रेरित होकर प्रगतिशीलता की बात करते हैं, वे कहते हैं -- अपने को प्रगतिशील घोषित करने वाली रचनाओं ने ऐसे लोगों को एक अजीब भ्रम में डाल रखा है जो मेरे समान जिज्ञासु तो हैं पर अर्थशास्त्र की पुरानी, आधुनिक (पूंजीवादी) और मार्क्सवादी व्याख्याओं को समझने का सुयोग नहीं पा सके हैं और इसीलिये जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके व्यापक प्रयोग को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते ।[२] द्विवेदी जी की धारणा है कि और मार्क्सवाद से प्रेरित नेताओं ने वर्ग और श्रेणी की बात को इस बेतरह से रटा है कि वे उसके वास्तविक उद्देश्य और आदर्श से अपरिचित से होते जा रहे हैं ।[३]

द्विवेदी जी अपने राजनीतिक चिन्तन में एक समन्वयकारी विचारधारा रखते हैं । वे कहते हैं, 'वस्तुत: मनुष्य की बुद्धि निस्सीम है, उसका विकास अब भी हो रहा है उसका चरम विकास कौन जानता है कि कभी होगा या नहीं ? इस बुद्धि के बल पर आरोपित सिद्धान्त सदा अस्थिर रहेंगे, एक आयेगा तो दूसरा जायेगा । इसीलिये सदा इस बुद्धि को रोकथाम करने की चेष्टा होती आयी है । इसकी गति रोकने के लिये नहीं, इसे और भी वेग देने के लिये है --... ... नदी की धारा अपने दोनों कूलों से बंधी रहती है यही बन्धन उसमें वेग लाता है....... मानव बुद्धि को भी वेग प्रदान करने के लिये ईश्वर की ओर से बन्धन किये गये हैं । शास्त्र और कुछ नहीं, मानव बुद्धि का वही कूलद्वय...... बतलाता है ।[४] 'गतिशील चिन्तन' नामक निबन्ध

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड ३, पृष्ठ ५३३

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २८६

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २८८

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३३४

में द्विवेदी जी ने साहित्यिक शैली में अपने समस्त राजनीतिक चिन्तन का सार संक्षिप्त किया है `सड़क बड़ी खराब है हुजूर` । मैं हंस का रह गया । साफ मालूम हुआ, गुप्तकाल और अंग्रेजकाल में बड़ा अन्तर है । ईश, बला, दात्र, दण्ड, चक्र और रथ- परिपाटियों में परिवर्तन साध्य है पर चक्के में तो परिवर्तन असत्य है...... . साम्राज्यवाद और `बुर्जुवा` मनोभाव पर इसी बहाने उसे एक ठोकर जरूर मारते जाना पड़ेगा.. .... .. समाजवाद गरीबों के लिये है या गरीबी के ध्वंस के लिये .... मगर ये गरीब देखेगा क्या ? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो पता नहीं ।[1] बात साफ है -- आदिकाल से सब कुछ परिवर्तित होता आया है, हो रहा है और होता भी रहेगा । जो अतीत को वर्तमान के साथ बांधकर भविष्य की ओर बढ़ता है वह बहुत सीमा तक सही दिशा में अग्रसर रहता है........ भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण ज्योति झिलमिला रही है, यही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है । इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध धवल गांधी[2] किरीट पर भी पड़ रहा है...... मेरा रथ अब गन्तव्य पर आ गया है ।

वस्तुत: द्विवेदी जी ने राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी और समाजवादी विचारधारा का भारतीय चिन्तन के अनुरूप स्थापित किया है । उन्होंने राजनीतिक विचारधारा का आध्यात्मीकरण किया है ।

, सार्वभौमवाद, अहिंसा और सत्याग्रह आदि भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं हैं । इन्हीं विशेषताओं को द्विवेदी जी ने अपने चिन्तन में अभिव्यक्त किया है । विश्व-बन्धुत्व, विश्वशान्ति, शोषण और साम्राज्यवाद का विरोध तथा धार्मिक सहिष्णुता का प्रसार और प्रचार द्विवेदी जी के चिन्तन के मुख्य आधार हैं ।

-०-

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थाव०, खण्ड ६, पृष्ठ ४२६-३०

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ४३३

पञ्चम अध्याय

-o-

धर्म, दर्शन एवं नैतिकता

धर्म

धर्म के विषय में चिन्तन और विचार द्विवेदी जी की सभी कृतियों में समाहित है । उनका सारा साहित्य भारत के महान मनीषियों के धार्मिक विचारों और भारत भूमि पर अवस्थित विभिन्न धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों को अपने में समेटकर धर्म की विशद् व्याख्या प्रस्तुत करता है । उनके द्वारा रचित उपन्यासों यथा - बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्र लेख, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा, अन्य रेखा आख्यान, जीवनी और संस्मरण के रूप में रचित मृत्युंजय रवीन्द्र, समालोचना साहित्य के अन्तर्गत लिखित सूर साहित्य, कबीर नाथ सम्प्रदाय, मध्यकालीन धर्म साधना आदि तथा अपने शास्त्रिक निबन्धों में उनके धर्म सम्बन्धी विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है ।

धर्म की परिभाषा :-

धर्म अति व्यापक शब्द है । जब हम संस्कृति के सन्दर्भ में धर्म की चर्चा करते हैं तो हमारा मूल तात्पर्य जाति विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली की प्रक्रिया और उसके आधार में क्रियाशील तत्वों का अध्ययन होता है ।

धर्म शब्द के उच्चारण मात्र से ही सम्बन्धित संस्कृति और समाज का चित्र हमारे सामने आ खड़ा होता है । धर्म की परिभाषा, दार्शनिकों, चिन्तकों और मनीषियों ने अपने-अपने समय, विचार और चिन्तन के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है ।

'धारणाद्धर्म इत्याहुः' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है । इसी से मनुष्य को प्रेरणा और मार्गदर्शन मिलता है । यही धर्म जीवन की गति, विधि, प्रगति में सहायक होता है । धर्म वस्तुतः संकुचित नहीं अपितु विशद्, महान और उदात्त भावना से प्राणवान् होता है ।

भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय धर्म है अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि धर्म क्या है ? क्या यह अंग्रेजी शब्द रिलिजन का पर्यायवाची है ? वस्तुत: धर्म अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द रिलिजन का पर्यायवाची नहीं है। इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड इथिक्स के अनुसार रिलिजन का अर्थ स्पष्ट चारित्रिक विशिष्टताओं से है[१]।

धर्म बहुत ही व्यापक अर्थ का सूचक है। किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति को उसका धर्म कहते हैं। धर्म की कमी से उस पदार्थ का नाश होता है। धर्म की वृद्धि से उस पदार्थ की वृद्धि होती है।....... धर्म की यह कल्पना भारत की ही विशेषता है[२]। धर्म के अनेकार्थों में से एक अर्थ रिलिजन का पर्यायवाची हो सकता है। परन्तु आंग्ल भाषा में प्रयुक्त रिलिजन धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। स्थूल रूप में मानव जीवन के सभी अंगों को नियमित करने वाले सिद्धान्त धर्म की व्याख्या के विषय बन जाते हैं।

संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द उक्त व्यापकता के साथ ही प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द `धृ` धातु से निर्मित है (धृ धारणे)। `धृ` धातु का अर्थ धारण शक्ति है। इस अर्थ में किसी भी वस्तु की धारण शक्ति को ही धर्म कहा जायेगा। इसी भाव को व्यक्त करते हुये महाभारत में कहा गया है `धारण करने के कारण धर्म कहलाता है धर्म प्रजा को धारण करता है, जो धारण संयुक्त है वह धर्म है यह निश्चय है।

धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजा: ।
यद् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चय: ।।[३]

१- The term 'religion' What ever its best definition clearly referes to certain characterstic types of data (beliefs practices,feelings moods,attitudes etc.

२- हिन्दू धर्म कोष, पृष्ठ ३३६ । इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स वाल्यूम ।

३- महाभारत-कर्ण पर्व - ६९, ५८

धर्म की इस प्रकार की विवेचना का यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु के स्वरूप को धारण करता है, उसे नष्ट नहीं होने देता वह धर्म कहलाता है अथवा जो वस्तु के द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म कहलाता है । धर्म की एक अन्य परिभाषा भी मिलती है (यो धृत: समधार्यते स धर्म:)। इसका अर्थ है कि जो धारण किया जाता है अथवा जो वस्तु के स्वरूप को धारण करता है अर्थात् उसे नष्ट होने से बचाता है वह धर्म है । पदार्थों में जो गुण (धर्म) है उन्हीं से पदार्थों को सदा स्थिर रखती है । उस पदार्थ से वे गुण हट जायें तो उस पदार्थ का धर्म नष्ट हो जाता है । अग्नि का अग्नित्व ही उसका धर्म है ।

धर्म का वैज्ञानिक विवेचन यह सिद्ध करता है कि वस्तु के स्वरूप का निर्माण करने वाले गुण धर्म हैं जो गुण आत्मा का अभ्युदय करने वाले हैं धर्म कहे जाते हैं । जो इसे गिराने वाले हैं, पतन करने वाले हैं, वे अधर्म कहे जाते हैं । अच्छी तथा खराब सब वस्तु परमेश्वर द्वारा सृष्ट है । इसीलिये मनु कहते हैं कि हिंसा करने वाले, न हिंसा करने वाले, मृदु, क्रूर, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य इन सबका विधान भी परमेश्वर द्वारा हुआ है[१] ।

इस प्रकार संसार को आत्मा का उत्थान करने वाले गुण, धर्म और उसे गिराने वाले गुण अधर्म कहे गये हैं ।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में धर्म एक अति व्यापक विषय है । उसका अपना महत्व और स्वरूप है ही । किन्तु प्राचीन भारत में धर्म और हिन्दु जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है । भारतीय धर्म अन्य सभी धर्मों और जातियों का समादर तथा सम्मान करने में अग्रणी रहे हैं । प्राचीन भारत को धर्म के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के लिये जो सम्मान प्राप्त है वह सर्वथा उचित है । भारत में सत्य की खोज बहुत गहन

१- मनुस्मृति १। २९

रूप से की गयी, बहुधा यह कष्टसाध्य भी रही । विचारों के क्षेत्र में अनेक प्रयोगों द्वारा धर्म के सम्बन्ध में जो दर्शन और चिन्तन विकसित हुआ उसकी गाथा बहुत वैविध्यपूर्ण है ।

द्विवेदी जी ने भारतीय धर्म की परिभाषा और संस्कृति के विकास के विभिन्न चरणों में आकर घुल मिल जाने वाली विभिन्न जातियों, उनके धर्म, साहित्य, धार्मिक विश्वास, धार्मिक रीति और नीति का शास्त्रीय विश्लेषण किया है । उन्होंने विभिन्न धर्म सम्प्रदायों और उनके शास्त्रों के ऐसे तत्वों का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोक-चेतना के माध्यम से हिन्दी साहित्य पर पड़ी है ।

द्विवेदी जी के अनुसार अनेक प्रकार की विचारधाराएं जब क्रमबद्ध युक्ति तर्क का आश्रय लेती है तो दर्शन कहलाती है - जब जीवन के नियामक विश्वासों और आचरणों का रूप ग्रहण करती है तो धर्म कहलाती है[१] ।

द्विवेदी जी का विचार है कि धर्म ऊपर से लादा हुआ कोई विधान नहीं है, धर्म वस्तुत: सत्ता का प्रकाशन है, वह पूर्णतया तभी नष्ट हो सकता है जब संसार नष्ट हो जाय, उनका विश्वास है कि धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है । यह समष्टि भी अनुरूपात्मक है । जिस सिद्धान्त द्वारा व्यष्टि और समष्टि अंगांगि भाव से सम्बद्ध रहते हैं, वह भी धर्म ही है ।

' अतएव भारत धर्म के अनुरूप धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह संसार के सभी प्राणियों से अनेकानेक रूपों में सम्बद्ध है तथा अधार्मिक वह है जो अन्य प्राणियों का कोई ध्यान रखे और सभी को अहंकारवश अपने सीमित स्वार्थों की दृष्टि से आंकता है ।'

द्विवेदी जी ने धर्म के व्यापक अर्थ पर विचार करते हुये लिखा है

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २६६

कि मनुष्य जो कुछ करता है उसका परिणाम उसे भुगतना पड़ता है और इसके लिये उसे जन्म-मरण के बन्धन में बंधना पड़ता है, कर्मफल की निवृत्ति से उसे छुटकारा मिलता है। निश्चित रूप से आचरण रूप में उल्लिखित सामान्य और विशेष धर्म उसे फलाकांक्षा निवृत्त करने के उपाय मात्र हैं[१]। यद्यपि द्विवेदी जी ने यह विचार शास्त्रों के लक्ष्य-वर्णन का विवेचन करते हुए अभिव्यक्त किया है तथापि इसमें धर्म के प्रति उनकी मान्यता की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। उन्होंने धर्म की ही नहीं अपितु मनुष्य के परम धर्म की भी चर्चा की है। मनुष्य का परम धर्म क्या है ? इस विषय में उन्होंने लिखा है - शास्त्रों में 'धर्म' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। व्रत, उपवास, तीर्थ यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, सत्संग, सदाचार, ध्यान-समाधि, जप, दान सब धर्म हैं : नित्य और नैमित्तिक कर्म भी धर्म हैं, कुल और व्यक्ति के निजी विश्वास और संस्कार भी धर्म हैं[२]। वे आगे लिखते हैं- कोई भी शास्त्रोक्त धर्म तभी तक धर्म है जब तक वह परम धर्म के अनुकूल होता है, उसके प्रतिकूल जाने पर अधर्म हो जाता है[३]। महाभारत का उल्लेख करते हुये द्विवेदी जी ने यह स्पष्ट किया है कि 'अविरोधात्तु यो धर्मः सधर्मो मुनिसत्तम'।

द्विवेदी जी ने पण्डित सुखमय भट्टाचार्य के महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन की प्रशंसा करते हुये अपने धर्म सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है -'असल में धर्म आचरण में ही प्रकट होता है, बड़े-बड़े धर्मों की बात रट लेना धर्म नहीं है.......... धर्मानुष्ठान से मन प्रशान्त होता है, मनुष्य सच्चाई और ईमानदारी की ओर उन्मुख होता है[४]। द्विवेदी जी के अनुसार सर्वभूत की हितचिन्ता व मैत्री ही शाश्वत धर्म है, इससे भी उच्च धर्म

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ८, पृष्ठ २६७
२- वही , खण्ड ८, पृष्ठ २६८
३- वही , खण्ड ८, पृष्ठ ३५३
४- वही , खण्ड ८, पृष्ठ ३८८ से ३८९

वह है जिसमें अपकार न किया जाय जो अखिल विश्व के सुहृत, विश्व कल्याण में निरत, मन, वचन, काय से स्वयं को विश्व-हित में लगाते हैं वही धर्म का यथार्थ रूप जान पाते हैं । धर्म की शास्त्रोक्त परिभाषाओं तथा धर्म दर्शन के गूढ़ विवेचन से अलग हट कर द्विवेदी जी ने साधारण लोगों के लिये, जो धर्म की गहराई में नहीं गये होते उनके लिये यह सन्देश दिया है कि 'शुद्ध धार्मिक आचरण के साथ-साथ सच्चरित्रता भी आवश्यक है । इसी से पता चलता है कि वस्तुत: पूजा-पाठ करने वाला आदमी वास्तव में धार्मिक है अथवा नहीं । आचार्य जी ने बड़ा बाचक साहित्यिक शैली में लिखा है, 'आम जब पक जाता है तो बाहर अपने आप रंग आ जाता है, सुगन्धि फूटने लगती है, किसी को कसम खाने की जरूरत नहीं रह जाती ।'[1]

चारु चन्द्रलेख (उपन्यास) में द्विवेदी जी ने सहज धर्म को परिभाषित करते हुये लिखा है कि 'अधर्म से जूझना ही मनुष्य का सहज धर्म है'[2] । अन्यत्र लिखा है, 'धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उन्नत करता है, वह नीरस उपदेश मात्र नहीं है । महाभारत का उल्लेख करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है कि विभिन्न अनुशासनों के निष्कर्ष मनुष्य के आचरण के रूप में प्रकाशित होने पर धर्म बनते तो अवश्य हैं पर वे एक दूसरे के विरुद्ध होने लगते हैं तो समझना चाहिए कि कहीं कोई खोट रह गयी है । दादूदयाल के शिष्य मकतबर रज्जब ने इसी बात को सीधी सादी भाषा में इस प्रकार कहा है कि, 'सब सांच मिले सो सांच है, न मिले सो झूठ' । इन बातों का अर्थ यही है कि सत्य या धर्म के विविध अनुशासन द्वारा उपलब्ध सत्य मूल परम धर्म की अपेक्षा में ही ग्राह्य है । वे तभी अविरुद्ध होंगे, जब मूल केन्द्रीय परमधर्म के अनुकूल हों । द्विवेदी जी ने धर्म को मानव धर्म के रूप में अधिक स्पष्ट किया है । वे कहते हैं कि, 'प्राचीन ऋषियों ने धर्म के बारे में बहुत विचार किया है । बाद में भी सन्तों और महात्माओं ने धर्म के

१- ह० प्र० ग्रन्था - खण्ड १, पृष्ठ ३६१

२- वही - खण्ड २, पृष्ठ ४७५

रहस्य को बताने के प्रयास किये हैं । पर लोगों तक वे सब बातें नहीं पहुंच पाती हैं.......... लोग बंधी बंधायी लीकों पर चलते आ रहे हैं । सत्य बोलना, दूसरों के लिये कष्ट सहन करना, जो कमज़ोर हो उनकी सहायता करना, भीतर बाहर से पवित्र रहना, दूसरों को भी पवित्र रखना, पवित्र बने रहने को प्रोत्साहित करना सच्चा धर्म है[1] ।

धर्म को अपने उपन्यास (अनामदास का पोथा) में प्रसंगवश आचार्य जी ने लिखा है, 'जिस कार्य से किसी को शारीरिक व मानसिक कष्ट होता है वह पाप कार्य है । पर जिससे किसी का दुख दूर हो, उसका इहलोक, परलोक सुधर जाये, रोगी निरोग हो जाये, दुखिया सुखी हो जाय, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पाये, कमज़ोर आश्वासन पाये, वे सब पुण्य हैं..... देख, धर्म कुछ मूल्यों से बनता है और मूल्यों का निर्णय परम-तत्व की अपेक्षा में ही होता है[2] । अन्यत्र लिखा है - सज्जनों का संग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, सत्य पर दृढ़ आस्था, दुखीजनों की सेवा ही परमधर्म है[3] । द्विवेदी जी ने धर्म की परिभाषा, पहचान, विश्लेषण स्वरूप निर्धारण आदि के सन्दर्भ में अपनी सभी कृतियों में कुछ न कुछ अवश्य कहा है । यदि सभी कृतियों से उनके धर्म-विषयक विचारों का संकलन किया जाये, तो निश्चय ही धर्म की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने वाला प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार हो सकता है । धर्म के विषय में द्विवेदी जी की धारणा बहुत ही स्पष्ट, उत्साही और उदार है । उन्होंने धर्म को किसी देश की संस्कृति, जाति या सम्प्रदाय में सीमित करके नहीं देखा । उनकी मान्यता है कि हर संस्कृति में अपनी-अपनी साधना परम्परा के द्वारा सामान्य अविरोधी धर्म के किसी न किसी रूप का साक्षात्कार अवश्य किया है । 'अशोक के फूल' में

१- ह० प्र० ग्रन्थावली - खण्ड १, पृष्ठ ३८६
२- वही - खण्ड २, पृष्ठ ३५५
३- वही - खण्ड २, पृष्ठ ३४६ से ३५०

द्विवेदी जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा-भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमश: प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम संस्कृति शब्द से व्यक्त करते हैं।

धर्म के मूल तत्व :-

धर्म के मूल तत्वों के बीच द्विवेदी जी कहते हैं - 'एकत्वानुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है, जब अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर......... समस्त सुख दुखों की तेलबाती में, जलाकर...... मनुष्य अपने आपको 'महाएक' को समर्पित करता है तो वह 'मनुष्य' बनता है। उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है। मनुष्य का श्रेष्ठ रूप में प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है....... जिस बात में मनुष्य की विशेषता है वह है उसकी साधना, तपस्या आगे बढ़ने का प्रयत्न इसीलिये मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अनायास नहीं प्राप्त होता, साधना लभ्य होता है।[1] धर्म के मूल तत्व के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने समन्वयवादिता पर विशेष बल दिया है। इस विषय में यह उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण है, 'बौद्ध धर्म को सुनना चाहिए, जैन धर्म को करना चाहिए, वैदिक धर्म को व्यवहार में लाना चाहिए और परमशिव का ध्यान करना चाहिए।'[2] चरित्र को उन्होंने धर्म के मूल तत्व के अन्तर्गत रखा है। मन्त्र तन्त्र नामक कहानी में उन लोगों को श्रेष्ठ बताया है, जो कहते हैं, 'हम ये तीस आदमी जीव हिंसा नहीं करते।' दूसरों की चीज नहीं लेते, झूठ नहीं बोलते और शराब भी नहीं पीते। सबको मित्र समझते हैं, हो सकता है तो दान करते हैं, ऊंची नीची जमीन को समान कर देते हैं। सर्व साधारण के लिये तालाब खोद देते हैं और घर बना देते हैं। महाराज अगर इसको कोई मन्त्र जानते हैं तो यही।[3] काशीराज के

१- ह० प्र० ग्रन्था०; खण्ड ७, पृष्ठ १५३-१५४
२- वही , खण्ड ११, पृष्ठ २२६
३- वही , खण्ड ११, पृष्ठ १२६

सारथि द्वारा दिये गये उत्तर में उन्होंने चारित्रिक विशिष्टताओं को इंगित करते हुये लिखा है --

क्रोधी को कर प्रेम जीतते हैं काशीपति
और दुष्ट को दिखा साधुता करते निज वश
कृपण मनुष्य को दानवीरता के वश करते
अजितेय हैं झूठ बोलने में सत्य के बल ।[1]

धर्म का सांस्कृतिक तत्वों से सम्बन्ध :-

प्रत्येक संस्कृति का प्रारम्भ एक विशिष्ट आध्यात्मिक विकास की अवस्था तथा प्राकृतिक सीमाओं के अनुकूल साध्य और साधनों की धारणा के साथ होता है । संस्कृति का प्राण उसके समस्त विकास के मूल तत्व में स्थित वह दृष्टि है जो मनुष्य को परमार्थ सुख और उसकी प्राप्ति के साधनों का समष्टि रूप में निर्देश करती है । आध्यात्मिक साधना और धर्म भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है । इसके द्वारा पारमार्थिक अभेद का अधिक साक्षात्कार होता आया है । वेदान्तसम्मत ज्ञान और योगसम्मत क्रिया भारतीय संस्कृति के प्राण रहे हैं । संस्कृति की इस लोकोत्तर प्रेरणा से ही वैराग्य, संन्यास, तितिक्षा, सहिष्णुता, अहिंसा, करुणा, समन्वय उदारता के महत्व का प्रादुर्भाव हुआ है । एक पारमार्थिक अभेद दर्शन के कारण व्यक्तिगत और सामाजिक भेदों की ओर भारतीय संस्कृति में उदार सहनशीलता रही है । भारतीय धर्म ने सांस्कृतिक परम्पराओं में सबके लिये समान मार्ग का आग्रह नहीं किया, अपने गम्भीरतम रूप में भारतीय संस्कृति मनुष्य के आध्यात्मिक भाग्य का प्रकाशन करती है ।

आचरण की सार्थकता जीवन का तत्व है और जीवन का परमार्थ सुख की प्राप्ति है । युगों से मनुष्यों ने सुख के स्वरूप को परिभाषित करने

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ११, पृष्ठ १३३

का यत्न किया है । इस प्रयास में साध्य और साधन अनुभव के बढ़ने के साथ विकसित हुए हैं । सच तो यह है कि मानव जीवन एक साथ भौतिक भी है, आध्यात्मिक भी, कार्य कारण स्थिति प्राकृतिक जगत् में होते हुये भी एक अप्राकृत और लोकोत्तर पक्ष की ओर उद्दिष्ट है । संस्कृति का प्राण उसके समस्त विकास के मूल में स्थिति वह दृष्टि है जो मनुष्य के परमार्थ सुख और उसकी प्राप्ति के साधनों का समष्टि रूप में निर्देश करती है ।

धर्म का सांस्कृतिक तत्वों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी मनुष्य के अन्तर के देवता को बहुत अधिक महत्व देते हैं, वे अन्तर्यामी को ही प्रमाण मानते हैं । `बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाबा कहते हैं - देख रे । तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भुलने को कहते हैं । जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं[1] । संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं और धार्मिक मान्यताओं की सर्वोत्तम परिणति स्वीकार करने पर द्विवेदी जी इस प्रश्न का हल बराबर ढूंढते रहे हैं कि वह कौन सी सर्वोत्तम साधनाएं हैं जो भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करती हैं । उन्होंने स्वयं माना है कि `भारतवर्ष' एक विशाल देश है, इसका इतिहास बहुत पुराना है । इस देश में अज्ञात समय से नाना जातियां आकर बसती रहीं और इसकी साधना[2] को नाना भाव से मोड़ती रही, नया रूप देती रही, समृद्धि करती रहीं । बाहर से आई हुई जातियों, धर्म, विश्वास, रीति-नीति सबको आत्मसात करने पर इस देश की साधना का कौन सा अंश श्रेष्ठतर है । सांस्कृतिक है पहचानना कठिन है । भारत में आकर अपना परम्परा भूलकर सांस्कृतिक स्तर पर एकत्व प्राप्त करने का श्रेय भारतीय धर्म के गम्भीर चिन्तन-मनन द्वारा ही सम्भव हो पाया है ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ७८

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २६३

आचार्य जी के अनुसार भारतीय संस्कृति के एकत्व का कारण कर्मफल का वह सिद्धान्त है जो संसार के सारे धर्म मतों से अलग हिन्दू धर्म को विशेष पहचान कराता है ।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जाता है । परन्तु कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं नहीं मिलता - - ये भारतवर्ष की अपनी विशेषता है[1] । द्विवेदी जी मानव जीवन की महानता किसी एक धर्म में केन्द्रित नहीं मानते । धर्म का स्वरूप विश्वव्यापी है । धार्मिक विधि निषेधों और पूजा आदि में ही कोई धर्म कैसे बंट सकता है । मानव संस्कृतियों और धार्मिक सम्प्रदायों के विश्वासों में समन्वय की बात खूब की जाती है, विज्ञान और वैज्ञानिक साधन समन्वय ही प्रस्तुत कर रहे हैं । फिर भी हिंसा वृत्ति नहीं मिटी । द्विवेदी जी वास्तव में यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय धर्म को सांस्कृतिक तत्वों से सम्बन्धित करके ही समन्वय स्थापित किया जा सकता है । उनके अनुसार समन्वय का अर्थ है - मनुष्य की मूल एकता को स्थापित किया जाये । यह एक रोचक एवं गम्भीर तथ्य है कि द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक तत्वों से धर्म का सम्बन्ध स्थापित करते हुए रूढ़ियों और परमुखापेक्षिता की धज्जियां उड़ा दी हैं । `ठाकुरजी की बटोर `, `धार्मिक विप्लव और शास्त्र ` ऐसे ही निबन्ध हैं । भगवान के नाम पर पंचायत की जा रही है और उसमें सर्वाधिक उपेक्षित ठाकुर जी ही हैं । पुन: शूद्रों के स्पर्श से ठाकुर जी को अपवित्र बताया जा रहा है[2] । समग्र रूप में द्विवेदी जी सांस्कृतिक संदर्भ में धर्म की वास्तविकता को ही स्थापित करते हैं । पण्डितों की पंचायत ज्योतिष के अनुसार त्योहार निर्णय करने के लिए बैठी और सारा समय व्यर्थ गंवा दिया, जबकि पश्चिम के देशवासियों को फुर्सत नहीं और हम

१- ह० प्र० ग्रन्थाव०, खण्ड ६, पृष्ठ २९६

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ १७१

एकादशी का व्रत करने के लिये पंचायत को सब फुरसत है[१]। द्विवेदी जी ने कद्रिग्रस्त संस्कृति को धर्म का वास्तविक रूप नहीं समझा है। 'वह चला गया' और 'महात्मा के महाप्रयाण के बाद' निबन्धों में द्विवेदी जी ने संस्कृति और धर्म के तत्वों के सम्बन्ध में धर्म, अर्थ और व्यवहार का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। द्विवेदी जी को धर्म के अन्तर्गत आने वाले मानवीय गुणों, सदाचरणों और निस्संगता में पूर्ण विश्वास है। वे ईश्वर के प्रति भक्तिभावना को मनुष्य के सदाचरण में बहुत बड़ा सहायक मानते हैं। मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा अजेय है[२]। द्विवेदी जी के निबन्धों एवं यत्र तत्र सभी कृतियों में यही ध्वनि गुंजती रही है। भारतीय धर्म के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक विवेचना द्वारा उन्होंने धर्म के विभिन्न तत्वों को बड़ी सहजता से स्पष्ट किया है। इस विषय में उनका अध्ययन गहन है। उनकी चिन्तनशीलता गम्भीर है और लोकमंगल को प्रमुखता देते हैं। उनकी धर्म संस्कृति की विचारधारा अतीत के महान चिन्तकों से होती हुयी रामायण, महाभारत, कालिदास के काव्यों, अपभ्रंश मध्ययुगीन सन्त साहित्य और रवीन्द्रनाथ तक विस्तृत है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में धर्म, दर्शन और उपासना पद्धतियों का वर्णन किया है। मध्ययुगीन भारत में एक प्रकार की जड़ता आ गयी थी। सहस्राब्दियों से अनवरत रूप से चली आ रही धर्म संस्कृति की परम्परायें बिखर गयी थीं, 'सारा आकाश चांदनी से इस प्रकार भर गया था जैसे किसी अज्ञात शिल्पी के सुधालेपन चूर्ण का भण्डार ही उलट गया है[३]।' नारी सौन्दर्य तो साक्षात् भुवन मोहिनी का स्वरूप है। इसी सन्दर्भ

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड ९, पृष्ठ ४५८

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ २३

३- वही , खण्ड १, पृष्ठ ३६

में यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि द्विवेदी जी ने धार्मिक आडम्बरों पर भी खूब प्रहार किया है। 'ब्रह्माण्ड में ऐसा कुछ भी नहीं है महाराज, जो पिण्ड में न हो, शक्ति चाहे दैवी हो, भौतिक हो, आध्यात्मिक हो एक है। और पिण्ड के भीतर विद्यमान है, अगर कहीं भी उसे पकड़ सको और उसे खींच सको तो निखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ दिखाई दे रहा है उसे खींच सकते हो अपने वश में कर सकते हो।'[1]

धर्म का सांस्कृतिक तत्वों से सम्बन्ध के सन्दर्भ में द्विवेदी जी की यह भी धारणा है कि संस्कृति का नियम या विधान समष्टि को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। इन नियमों से यदि एक भी व्यक्ति को हानि पहुंचती है तो समाज में बुराइयां प्रवेश करने लगती हैं। उपनिषद्-युगीन चिन्तन के मुख्य विषय तप, सद्गुण सर्वश्रेष्ठ साधन और स्वाध्याय थे। विभिन्न मनीषियों ने मनन करके इनके विषय में अपने-अपने निष्कर्ष दिये, विचार भिन्न हैं परन्तु द्विवेदी जी की कथन शैली ने इनमें अद्भुत समन्वय ला दिया है। 'सत्य बड़ा गुण है, स्वाध्याय और सत्संग परम तप है और पर दुःख कातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है, सत्संगति सद्-ग्रन्थों का अध्ययन मनन, सत्य पर आग्रह रखना दुःखीजनों की सेवा ही तो परमधर्म है।[2] प्राचीन भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ बताये गये हैं। इनमें तीन साधन हैं और अन्तिम चौथा साध्य है, अर्थ और काम तो सेवा की सिद्धि के सोपान ही है। धर्म से इनका विरोध हो तो वह आचरणीय नहीं है। संस्कृति और धर्म के तत्वों का यह गहरा सम्बन्ध द्विवेदी जी के समस्त लेखन में यत्र-तत्र सर्वत्र देखने को मिलता है।

सांस्कृतिक तत्वों से धर्म का सम्बन्ध स्थापित करते हुये द्विवेदी जी को जो महारथ प्राप्त है वह निश्चय ही स्तुत्य है। आचार्य द्विवेदी

१- ह०.प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३०३

२- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३४५-५०

जी ने कला को जिस भारतीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है उससे उनकी सांस्कृतिक निष्ठा तो स्पष्ट हुई ही है साथ ही उनका प्रबल धर्म चिन्तन भी अभिव्यक्त हुआ है । कला के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और अध्यात्मपरक है । परमवैष्णव भगवान विश्वनाथ के अविमुक्त क्षेत्र में रहने के कारण द्विवेदी जी शिव वैष्णव वेत्ता के एक समन्वय साधक थे । इसी के प्रभावस्वरूप उनके कलात्मक चिन्तन में सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों ही रूपों में वैष्णवी शिवत्व का पूर्णत: समावेश विद्यमान है । उनके कलात्मक चिन्तन में शिवत्व का जो चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ है वह निश्चय ही कला और धर्म का समन्वयी है । उन्होंने माया को शिव की लीला सखी के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए इस बात को स्पष्ट लिखा है कि `लीला प्रयोजन से महाशक्ति रूपा महामाया सचेष्ट हो जाती है और शिव जी इन्हीं महामाया के सखा हैं । आनन्द में रमण करते हैं, पवित्र भक्तों का हृदय उनका निवास है और ललिता स्वरूपिणी महामाया ही आनन्द की परमनिधि हैं । वस्तु कल्प महामाया की समर्थन शक्ति है । कला की विश्रान्ति सचमुच भोग में नहीं वरन् परमतत्व के साक्षात्कार में समाहित है । उन्हीं के शब्दों में - `कला वही श्रेष्ठ है जो मनुष्यों को अपने आप में सीमित न रखकर परमतत्व की ओर उन्मुख कर देती है । उसका लक्ष्य है आत्मस्वरूप का साक्षात्कार या परमतत्व की ओर उन्मुखीकरण `।[१]

द्विवेदी जी के अनुसार, `यह संवेदना एक अपूर्व द्रावकरस है, समस्त ललित कलाओं का यह प्राण है, इसके स्पर्श में आकर सुख दु:ख नहीं रहता, दुख दुख नहीं रहता, समस्त मनोभाव ज्यों के त्यों रहते हैं पर उनकी अनुभूतियां एकदम बदल जाती हैं मनुष्य का यह निजी धर्म है ।[२]` मनुष्य का यह धर्म सर्वात्मभाव का प्रतीक होकर देवता को मनुष्य और मनुष्य को देवता बनाकर, मनुष्यत्व और देवत्व को अद्वैत रूप में कर देता है । द्विवेदी जी की

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३०७

२- वही , खण्ड , पृष्ठ १५३

सांस्कृतिक दृष्टि ने वनस्पति जगत में भी धर्म के तत्वों को अनुभव किया, उनके अनुसार अशोक का सम्बन्ध कन्दर्प देवता और गन्धर्व जाति से है । आम्रमंजरी भी देवता के बाण से सम्बन्धित है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने मानव जीवन की महानता किसी एक धर्म, विषय और वस्तु में केन्द्रित नहीं माना है । यह सत्य भी है । धर्म का स्वरूप विश्वव्यापी है । धार्मिक विधि निषेधों और पूजा आचारों में ही कोई धर्म सीमित नहीं होता । वास्तव में देखना यह है कि धर्मों ने किन मूल तत्वों को केन्द्र में रखकर बाह्याचारों को स्वरूप प्रदान किया है ।

धर्म और उपास्य :-

धर्म अति व्यापक विषय है । इसका अपना महत्व और सत्व है । भारत में इसके विकास की गाथा बहुत वैविध्यपूर्ण है । धर्म के अनुरूप धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह संसार के सभी प्राणियों से अनेकानेक रूपों में सम्बद्ध है[1] । वस्तुत: धर्म जीवन का विषय है । `धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उन्नत करता है वह नीरस उपदेश मात्र नहीं है < < < धर्म कुछ कर्तव्यों और आचरणों से प्रकट होता है < < < अधर्म से जूझना मनुष्य का सहज धर्म है < < < धर्म मुक्तिदाता है - - - - धर्म प्रेरणा है --- -- धर्म कोई संस्था नहीं वह मानवात्मा की पुकार है[2] । इन तथा पूर्व पृष्ठों में द्विवेदी जी द्वारा धर्म के रूप-स्वरूप के विषय में उनके विचार धर्म के रूप-स्वरूप एवं अर्थ विस्तार को पूर्णरूप से स्पष्ट कर देते हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि धर्म द्वारा जो धार्मिक मनोवृत्ति उत्पन्न होती है वह क्या है ? उस मनोवृत्ति के कर्ता का क्या स्वरूप है ?

द्विवेदी जी के समस्त वाङ्मय में उपासना और साधना शब्द अनेकों बार प्रयुक्त हुए हैं । `उपासना` शब्द में प्रयुक्त `उप` उपसर्ग है ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४६

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २४७

उपसर्गों का प्रयोग धातुओं के अर्थ को बदलने के लिये किया जाता है । `अस` धातु है । `अस ` से आसन बनता है । `उप + अस से संयुक्त होने पर भाव में उपासना शब्द की व्युत्पत्ति होती है । इस प्रकार `उपासना ` का अर्थ हुआ इष्ट देव की पूजा और पूजा के निमित्त नियम तथा उपवास आदि।

`साधना` शब्द में `सिधु ` धातु है । इसमें णच् तथा टाप् प्रत्यय लगाने से साधना शब्द व्युत्पन्न होता है । इसका अर्थ है किसी विषय विशेष की सिद्धि । उपासना अथवा साधना का कोई इष्ट होता है जिसे हम उपास्य कहते हैं । उपास्य आशीर्वाद, दया, भक्ति आदि की प्राप्ति के लिए जो पूजा और पूजा के निमित्त नियम तथा उपवास आदि का अनुष्ठान करता है वह उपासक होता है । उपास्य, उपासक और उपासना के उपर्युक्त स्वरूप के सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी जी के विचार अत्यन्त विस्तृत गूढ़ और साथ ही सहज भी हैं ।

उपासना की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, `सच्ची उपासना तो निरन्तर शुभ कार्य की प्रेरणा है - - - - - - निरन्तर शुभ साधना अपने आप में बड़ा पुरस्कार है । इसी सन्दर्भ में उन्होंने उपासना के उस स्वरूप का भी उल्लेख किया है जो परम्परागत उपासना पद्धति से थोड़ी भिन्न है - - - - - निरन्तर अन्याय से जूझो, निरन्तर जड़ता से संघर्ष करते जाओ, निरन्तर सड़ी गली कुसंस्कारग्रस्त रूढ़ियों का परित्याग करते रहो . - -- कदाचित् तुम्हारा संकल्प सैकड़ों वर्ष बाद रूप ग्रहण करे, पर चिन्ता की कोई बात नहीं, निरन्तर शुभ साधना अपने आप में बड़ा पुरस्कार है[1] ।` उपास्य के विषय में द्विवेदी जी यह मानते हैं कि `उपासक के भाव ही उपास्य को नाम और रूप देते हैं `वासुदेव और महादेव ` कोई भिन्न देवता थोड़े ही हैं, एक ही हैं, नाम रूप तो उपासक के भाव हैं[2] ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ४७४

२- वही ,खण्ड २, पृष्ठ २९१

उपास्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने यह भी लिखा है- 'साधना केवल उपास्य को आश्रय करके नहीं चलती, उपासक भी उसका मुख्य अंग होता है[१]। वे उपास्य के स्वरूप का कोई भेद स्वीकार नहीं करते। उपास्य का नाम-रूप अभिव्यक्ति और गुण भिन्न हो सकते हैं रूप कोई हो। वह (उपास्य) है मूल अद्वैत सत्ता की ही अभिव्यक्ति[२]। वस्तुत: उपासक अपनी रुचि और संस्कारों तथा अपनी इच्छा तथा प्रयोजन के अनुसार उपास्य के विशिष्ट रूप की उपासना अवश्य करता है - - - - - थोड़ी और गहराई में जाकर देखा जाय तो इसका स्पष्ट रूप अद्वैतवाद है। एक ही देवता है जो विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूप का ध्यान किया जाता है वही समस्त अन्य रूपों में मुख्य और आदिभूत माना जाता है। इसका रहस्य यह है कि साधक सदा मूल अद्वैत सत्ता के प्रति सजग रहता है[३]।

उपास्य में हमारी इच्छावृत्ति होती है, वस्तुत: हम उसी से अनुनय विनय और समर्पण की इच्छा रखते हैं जो हमारी इच्छापूर्ति कर पाये। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, 'हम लोहे से प्रार्थना नहीं करते, उसी के निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं जिसमें इच्छावृत्ति हो[४]।

इस सन्दर्भ में सगुण और निर्गुण भाव की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, 'सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान को दूर से देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुये भगवान को ही परम काम्य मानते थे[५]।

उपासक के लिये वे पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना पर विशेष बल

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३७५

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ८३

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ८३

४- वही , खण्ड ४, पृष्ठ २९५

५- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३३६

देते हैं, उनके विचार है - जहाँ परिपूर्ण आत्मसमर्पण है वहाँ भगवान आप रूप प्रगट होते हैं[१] ... ... भगवान को परिपूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किये बिना बुद्धि नहीं आती[२]। वस्तुत: उपास्य के जो विभिन्न रूप प्रचलित हैं। द्विवेदी जी उन सभी में एक ही परमसत्ता को व्याप्त मानते हैं। भगवान का प्रेम अखण्ड है, उसके अंश विशेष के प्रति आसक्ति प्रगट करने मात्र से उसकी अखण्डता खंडित नहीं होती। उपासक के भाव से ही देवता के रूप स्वरूप का गठन होता है, देवता न बड़ा होता है न छोटा, न शक्तिशाली होता है न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उपासक उसे बनाना चाहता है[३]। किन्तु इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी निराकार सत्ता को विस्मृत नहीं करते। वे इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -- भगवान के दो रूप हुये। एक तो वह जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, व्याख्या नहीं कर सकते, विवेचना नहीं कर सकते। दूसरा वह जो भक्त के चित्त में भाव से प्रगट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बन्धन में बंधा रहता है। 'उपनिषदों और पुराणों' की मान्यता की इससे अधिक स्पष्टोक्ति और क्या हो सकती है। उनकी उपास्य सम्बन्धी कल्पना में हमें पौराणिक युग की मान्यताओं की अभिव्यक्ति अधिक मिलती है।

उन्होंने लिखा है - 'भगवान् जब भक्तों का उद्धार करना चाहते हैं तो धरती पर उतर आते हैं और मनुष्य के स्तर पर आकर ही भक्त का उद्धार करते हैं'। इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है, 'ऐसा लगता है कि यह धारणा वैदिकोत्तर काल में ही पुष्ट हुई है कि भगवान मनुष्य का या मनुष्येतर जीव का पार्थिव रूप ग्रहण करके भक्तों का उद्धार करते हैं, धर्म की स्थापना और पापियों का संहार करते हैं[४]।

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ४७७

२- वही , खण्ड ४, पृष्ठ ४२८

३- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३१०

४- , खण्ड ५, २०६

५- , खण्ड ५, २८२

उपासना पद्धति और उपासना के कर्मकाण्ड :-

भारतीय मनीषी प्रारम्भ से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासों और धारणाओं की व्याख्या करते रहे हैं। इसीलिये भारत में धर्म, विज्ञान और तत्व जिज्ञासा के बीच सम्बन्ध बना रहा है। यह सामंजस्य भारतीय मनीषियों की एक बड़ी भारी देन है। आधुनिक समय से पहले भारतीयों की उपासना पद्धतियों में स्नान, पूजा और जप का महत्व था। उनमें स्पर्श दोष से अपने को बचाये रखकर अपने कुल मर्यादा की रक्षा करने की चिन्ता थी। वे सदाचरण मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाने, दान देने तथा ऋषियों, महात्माओं के वचनों का श्रवण करने में विशेष रूप से रत रहते थे। इन विश्वासों का प्रतिफल यह हुआ कि भारत में अनेक उपासना पद्धतियां प्रचलित हुईं। इन सभी की धार्मिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि थी। धार्मिक, दार्शनिक मनोवृत्ति के फलस्वरूप मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति मन्दिर आदि निर्माण किये। अनेक गीत, कविता और नाटक लिखे। ललित कला को अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की पर सर्वत्र वह कहीं धार्मिक और दार्शनिक मनोवृत्ति का ही परिचय देता रहा[१]।

दार्शनिक मनोवृत्ति के फलस्वरूप जिन पद्धतियों का विकास हुआ वे उपनिषदों और आरण्यकों में व्याप्त है, यह मनोवृत्ति ज्ञान और चिन्तन पर बहुत अधिक बल देती थी। यद्यपि ज्ञान का महत्व है परन्तु वह सब कुछ नहीं। द्विवेदी जी कहते हैं, "केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता"[२]। वे ज्ञान के मार्ग को कृपाण की धारा मानते हैं[३]। धार्मिक मनोवृत्ति के अन्तर्गत विकसित उपासना पद्धतियों का द्विवेदी जी ने विभिन्न

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ ३६८

२- वही , खण्ड ८, पृष्ठ ३५२

३- वही , खण्ड ३, पृष्ठ ६७

कालों के अनुरूप विश्लेषण किया है । उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों और शास्त्रों में विकसित उन उपासना पद्धतियों का भी विश्लेषण किया है जिसकी अमिट छाप भारतीय जन-जीवन पर पड़ी है । उनकी रचनाएं कबीर, नाथ सम्प्रदाय, मध्यकालीन धर्म साधना तथा अनेकानेक निबन्धों में उपासना पद्धतियों की चर्चा मिलती है ।

उपासना पद्धतियों की वैविध्यता का कारण बताते हुये द्विवेदी जी ने यह स्पष्ट किया है कि इसका कारण 'प्रत्येक व्यक्ति को अलग धर्मोपासना का अधिकार है'। उन्होंने प्रथम शताब्दी ईस्वी से लेकर १५वीं शताब्दी ई० तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया है कि सन् ईस्वी के हजार वर्ष बाद यहां की समस्त उपासना पद्धतियां लोकमत के अनुरूप घुलमिलकर लगभग एक-सी प्रतीत होती हैं । उनका विचार है कि यदि भारत में इस्लाम का प्रवेश न हुआ होता तो भारत में उपासना पद्धतियों की बहुत अधिक वैविध्यपूर्णता न रही होती । द्विवेदी जी ने विभिन्न सम्प्रदायों और शास्त्रों में ऐसे तत्वों का विश्लेषण किया है जिसकी अमिट छाप उपासना पद्धतियों, आचार-विचार तथा कर्मकाण्ड आदि पर पड़ी । यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी उपासना पद्धति ऐसी नहीं मिलती जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्वकाल में न हो गया हो । उदाहरण के लिए - विक्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तान्त्रिक प्रभाव भारतीय उपासना पद्धति पर पड़ा । वह परवर्ती काल के सन्तों या निर्गुण भक्तों की साधना के रूप में प्रकट हुआ[१]। पूर्व मध्य युग में विविध पद्धतियां पनपी और इसे तंत्र प्रभाव का काल कहा गया है । इस काल की मुख्य घटना पाञ्चरात्र संहिताओं का अभ्युत्थान काल कहा गया है ।

इन संहिताओं को वैष्णवों का कल्प वृक्ष कहा गया है । छठी

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २६८

से दसवीं शताब्दी ईस्वी तक के काल में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक के मंत्र तंत्र मुद्रा आदि का प्रचार बहुलता दिखाई देता है । तंत्र शास्त्रों में मंत्र तंत्र न्याय दीक्षा गुरु आदि तत्व सम्मिलित किये जाते हैं । द्विवेदी जी ने इस काल की उपासना पद्धतियों को दो मोटे विभागों में विभाजित किया है । योगमूलक तथा भक्तिमूलक । वस्तुत: इन पद्धतियों का प्राचुर्य मध्य युग में अधिक मिलता है ।

द्विवेदी जी ने धर्मशास्त्र के तीन पक्ष विवृत किये हैं । `हर धर्म साधना के तीन पक्ष होते हैं - - - - - उसके पीछे काम करने वाली तत्व मीमांसा (दर्शन) उसको सरस रूप में उपस्थित करने वाला वाङ्मय (काव्य) और उसके जीवन के व्यवहार के क्षेत्र में ले आने के लिये तत्वानुयायी कर्मकाण्ड (क्रिया) ये तीनों ज्ञान इच्छा, क्रिया के प्रतिपादक होते हैं । धर्म साधना में इन तीनों का अन्तर्भाव होता है । समस्त भारतीय धर्म साधना में इन तीनों पक्षों को खोजा जा सकता है[१] ।

भारत की उपासना पद्धतियों और उपासना के कर्मकाण्डों के संदर्भ में यह विशेष विचारणीय है कि अनेकानेक विदेशियों को भारतीय संस्कृति ने धर्म के क्षेत्र में अपने में किस प्रकार समाहित किया । इसकी चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति की उस विशेषता की ओर इंगित करते हुये लिखा है कि `समागत कबीलों, नस्लों और जातियों की भीतरी समाज व्यवस्था और धर्ममत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया और फिर भी उन्हें सम्पूर्ण रूप से भारतीय बना लिया गया - - - - - उसका एक कारण यह था कि उसकी धर्म साधना शुरू से वैयक्तिक रही है । प्रत्येक व्यक्ति अपने किये का जिम्मेदार आप है । श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म मत को मानना या देव विशेष की पूजा करना नहीं है, बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है । यदि कोई अपने कुल धर्म के पालन में दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है । दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नहीं करता, बल्कि

बल्कि स्वधर्म में ही मर जाने को श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण, शैव हो या वैष्णव[1]। अतः देशी और विदेशी का प्रश्न ही नहीं उठता। द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि 'देवता किसी जाति विशेष की सम्पत्ति नहीं होता'। 'भक्ति के लिये जो बात नितान्त आवश्यक है वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके[2]।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी के धर्म सम्बन्धी विचारों का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि केवल अन्तर्यामी ही प्रमाण हैं। पुनर्नवा में देवरात मंजुला से कहते हैं, 'तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती यह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है - - - - - देवता न बड़ा होता है न छोटा, न शक्तिशाली होता है न अशक्त, वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उपासक उसे बनाना चाहता है - - - - अपने अन्तर्यामी को प्रमाण मानों वे सब ठीक कर देंगे[3]। यदि कोई परम देवता कहीं है तो उसको खेत में काम करते हुए किसानों, सड़क पर मिट्टी तोड़ते हुए मजदूरों के श्रम-बिन्दुओं में ही साक्षात पाया जा सकता है - - - - मनुष्य की सब पूजायें, तपस्याएं व्यर्थ हैं, यदि उससे दीन दुखियों के आंसू नहीं पुंछ सकें, दलितों और निरन्न लोगों के चेहरों पर आनन्द की हंसी न दिखायी दे जाय, रोगियों की मर्मान्तिक पीड़ा समाप्त न हो जाय। इस समूची सेवा-भावना का लक्ष्य क्या है ? स्वर्ग ? नहीं ; मोक्ष ? नहीं।

इस सेवा भावना का लक्ष्य सेवा भावना ही है। मनुष्य की सेवा ही साध्य है, मनुष्य की सेवा ही साधन[4]। इस प्रकार द्विवेदी जी के धर्म-सम्बन्धी समस्त विचार की ओर अग्रसरित हैं और आधुनिक युग मानव धर्म को प्रतिपादित करते हैं।

दार्शनिक चिन्तन

भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप और आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में उसके विकास की चर्चा प्रथम अध्याय में की गयी है ।सांस्कृतिक प्रसंगों के प्रमुख तत्व `दर्शन` के विषय में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के तत्सम्बन्धित विचारों को उनके साहित्य के माध्यम से देखने का उपक्रम प्रस्तुत अध्याय की प्रमुख विषय-वस्तु है ।

दर्शन के क्षेत्र में भारत का योगदान सबसे अधिक रहा है । सभ्यता के आरम्भ में ही इस देश में मानव ने `कुत: स्म आता: कुत: इयं विसृष्टि: ` अपने जन्म और इस सृष्टि के चिन्तन के साथ जगत को देखना आरम्भ किया था । परिणामस्वरूप भारतीय जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप कार्य-कारण की तर्कबुद्धि पर ढाला जाने लगा और पक्ष-विपक्ष के निर्णय के अनुसार सैद्धान्तिक मान्यतायें निर्धारित होने लगीं ।

दर्शन भारतीय विचार और चिन्तन साहित्य का आधार है । आचारों और विचारों का समन्वय ही संस्कृति है । भारतीय संस्कृति की महनता, गम्भीरता, विशालता, स्थिरता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण दर्शन साहित्य में निहित है । वस्तुत: दर्शन भारत की मौलिक एवं अजस्र चिन्ताधारा के उत्स हैं । यहां की संस्कृति की नींव दर्शन पर ही आधारित है । भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक साधना का जो प्रभाव परिलक्षित होता है उसका आधार भारतीय दर्शन का तत्व चिन्तन है ।

षड्-आस्तिक दर्शनों और लोकायतिक (चार्वाक) तथा जैन-बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों की समन्वित विचारधारा का निष्पन्दन ही भारतीय संस्कृति है । इसी कारण उसे अमरता प्राप्त हुई ।

भारतीय दर्शन का अर्थ-तात्पर्य :-

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त `दर्शन` शब्द `दृश` धातु से बना है। `दृश` का शब्दार्थ है देखना। `दृश` धातु में `ल्युट` प्रत्यय लगा देने से दर्शन शब्द बनता है। दर्शन शब्द की व्याख्या करते हुये यह कहा जा सकता है कि जिससे देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं। `दृश्यते इति दर्शनम्` देखने का स्थूल साधन आंखे हैं। इनके द्वारा देखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है। यह स्थूल दर्शन का मत है। सूक्ष्म दर्शन का मत है कि सभी कुछ नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। जो न दिखाई देने वाली वस्तुओं के लिये तात्विक बुद्धि प्रज्ञा चक्षु या दिव्य दृष्टि है। इसके अनुसार दर्शन का अर्थ हुआ वह माध्यम जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

दर्शन के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुये यह कहा जा सकता है कि दर्शन नाम की सार्थकता देखने में है। यह शब्द (दर्शन) देवादि महान सत्ताओं को देखने में विशिष्ट हो गया है। देव दर्शन,चन्द्र दर्शन आदि, किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थ का ही नहीं होता वरन् अमूर्त पदार्थों का भी होता है। उपनिषदों में आत्मा को ही दर्शन का विषय माना गया है- `आत्मा व दृष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:` अर्थात् दर्शन द्वारा परम देवत्व ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किये जाते हैं। साधारणत: दर्शनों से तात्पर्य आलोचनात्मक व्याख्याओं (भाष्य) तार्किक सर्वेक्षणों अथवा दार्शनिक पद्धतियों से होता है - - - - - - - दार्शनिक विधि में दर्शन से तात्पर्य अन्तर्ज्ञान का प्रमाण मानना है और उसका तार्किक रूप में प्रचार करना है[१]। स्मृतियों में `सम्यक् दर्शन तथा आत्मदर्शन` का उल्लेख मिलता है। अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना आत्मदर्शन तथा सम्यक् दर्शन है। साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह सृष्टि क्या है ? जीवन मृत्यु मृत्यु का रहस्य क्या है ? मैं क्या और कौन हूं ? इन सभी के मूल में

अव्यक्त रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है । हिन्दू धर्म कोश के अनुसार 'यह अवलोकन बाहरी एवं आन्तरिक हो सकता है ।" सत्यों का निरीक्षण या अन्वेषण हो सकता है अथवा आत्मा की आन्तरिकता के सम्बन्ध में तार्किक अनुसंधान हो सकता है । प्राय: दर्शन का अर्थ आलोचनात्मक अभिव्यक्ति तार्किक मापदण्ड अथवा प्रणाली है, जिसे अभ्यान्तरिक (आत्मिक) अनुभव तथा पूर्ण कार्नों से गृहण किया जा सकता है ।'

यह बात स्पष्ट होती है कि दर्शन वस्तुत: मूल रूप में सत्य का निरूपण करने के सम्बन्ध में चिन्तन करके मानव के सर्वोपरि लक्ष्य और उद्देश्य के विषय में ठोस निष्कर्ष और मन्तव्य विधि प्राप्त करना है । दर्शन एक प्रकार का वह आध्यात्मिक ज्ञान है जो आत्मारूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है । वस्तुत: दर्शन उस परमसत्ता की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है । अत: दर्शन का मूल एकमात्र सर्वोपरि परमब्रह्म की सत्ता की स्थापना करना है । यही परम सत्य है ।

भारतीय दर्शन का विकास :-

दर्शन में भारत की मानसिक निधि सुरक्षित है । अनादिकाल से ज्ञानियों ने इस निधि की खोज की है । समय-समय पर चिन्तन और विचार द्वारा दर्शन के बहुमूल्य रत्नों को प्रतिष्ठापित किया है । भारतीय दर्शन के स्रोत वैदिक ग्रन्थ हैं । वस्तुत: वैदिक और उपनिषदकालीन चिन्तकों ने भारत के जन-जीवन की जागरण को पूर्णता दी । यद्यपि किसी दार्शनिक विषय का सांगोपांग विचार किसी स्थान में वेदों में नहीं मिलता, किन्तु छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े तत्वों के स्वरूप का साक्षात् दर्शन तो ऋषियों को हुआ था और वे सब अनुभव वेद में वर्णित हैं । ऋषियों की तपस्या के
का अपना-अपना साक्षात् अनुभव ही वैदिक दर्शन कहा जाता है ।

वैदिक संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रधान रूप से उपासना के ग्रन्थ हैं । ये दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु को दृष्टि से इनमें आत्मा

तथा परब्रह्म के विषय में जो बातें कही गयी हैं । उन्हीं को बाद के दार्शनिक चिन्तकों ने विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों में विकसित किया । उपनिषद ज्ञान काण्ड के अन्तर्गत आते हैं और उनमें बिना किसी क्रम के दार्शनिक विचार भरे पड़े हैं । इन्हीं को मूल मानकर तत्व चिन्तकों ने विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को प्रतिपादित किया और समयान्तर से इन दर्शनों की विभिन्न शाखायें होती गयी । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के बीच अन्तर को समझते हुए गौतम बुद्ध ने दर्शन में लोकहित के आध्यात्मिक स्वरूप की स्थापना की । जिससे रूढ़िग्रस्त दार्शनिक विकृति का अन्त हुआ । इसी क्रम में अनेक प्रतिक्रियायें होती रहीं और विभिन्न दार्शनिक प्रणालियां (जिन्हें षड्दर्शन और लोकायतिक तथा जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों के रूप में जाना जाता है) विकसित होती रहीं । यह क्रम भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग तक चलता रहा । भारतीय इतिहास के मध्यकाल में शिव और विष्णु का व्यापक रूप में दार्शनिकीकरण किया गया । सूर और तुलसी कम्ब, मीराँपत, शंकरदेव और त्यागराज ने राम और कृष्ण के व्यक्तित्व को विभिन्न दार्शनिक पक्षों की ओर मोड़ा ।

भारतीय दर्शन के विकास-क्रम को संक्षेप में डा० राधाकृष्णन के शब्दों में कहा जा सकता है -- भारतीय दर्शन में विवाद-विषयक समस्यायें अनादिकाल से उलझन में डालती आयी हैं और अभी भी उनका समाधान सबके लिये सन्तोषजनक रूप में नहीं हो सका । ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा एवं परमात्मा को जानने की उत्कट इच्छा मनुष्य जाति की अनिवार्य आवश्यकताओं का विषय रही है ।

पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण :-

आंग्ल भाषा में दर्शन के पर्यायवाची शब्द `फिलासफी` का शाब्दिक अर्थ ज्ञान का प्रेम है । इसलिये पाश्चात्य दर्शन का दृष्टिकोण बहुत सीमा तक बौद्धिक जिज्ञासा है । आचार्य द्विवेदी जी ने पाश्चात्य दर्शन के विषय में अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किसी पण्डित के विचारों के सन्दर्भ में किया है । वे लिखते हैं - `क्योंकि जिस चीज को पश्चिम

में फिलासफी (ज्ञानानुसन्धान) कहते हैं । उसका भारतवर्ष में विकास हुआ ही नहीं । फिलासफी का मूल मन्त्र सन्देह है । धर्म विज्ञान (थियालाजी) का केन्द्रीय सत्य विश्वास है । भारतीय दर्शनों ने कभी भी धर्म विज्ञान को छोड़ा नहीं । पाश्चात्य पण्डित के इस तर्क में विचारणीय बातें हैं । यह सत्य है कि भारतवर्ष के दर्शनों का मूल प्रतिपाद्य धर्म ही है परन्तु यह धर्म वह वस्तु नहीं है जिसे पश्चिम में थियालाजी कहते हैं । दर्शन शब्द का अर्थ ही है देखना । इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करता है[1] । वस्तुत: पाश्चात्य दर्शन की यह व्याख्या और भारतीय दर्शन से उसकी असमानता का उपरोक्त वक्तव्य सर्वथा उचित है ।

फिलासफी ग्रीक भाषा से आया हुआ शब्द है । उसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ `ज्ञान के प्रति प्रेम है`। जानकार लोगों का कहना है कि पश्चिम के तत्ववाद ने ज्ञान के प्रति प्रेम का जैसा परिचय दिया है वैसा परिचय ज्ञेय के प्रति प्रेम का नहीं दिया है[2] । वस्तुत: भारतीय मनीषी दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है । इसीलिए उपनिषदों में आत्मज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य आदि साधन बताये गये हैं । यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है । यह केवल बुद्धि का विलास नहीं वरन् साधना के विषय हैं ।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रातिभ ज्ञान को माना है, जो वस्तुत: बौद्धिक ज्ञान से ऊंचा तो है परन्तु उसमें योग द्वारा साक्षात्कार करने की क्षमता नहीं है । जैसा कि आचार्य द्विवेदी ने अपने दार्शनिक विचारों में प्रतिपादित किया है । भारत में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह `घृताधारश्च पात्रं वा पात्राधारं घृतं` की सी केवल कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ १२५

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ १२५

है । उन्होंने उसको अमृतत्व प्राप्ति का साधन माना है । भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है । यहां अपने पुरुषार्थों की 'इति कर्तव्यता' इस दृश्य जगत् के क्षणभंगुर वैभव की उपलब्धि में नहीं समझी गयी । भारत में धर्म, दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है । वस्तुत: जब भक्त भगवान के असीम अचिन्त्य गुण प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चिन्तित वस्तु की बात नहीं करता, बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता । वह इन सब से भिन्न और सबसे अलग एक ऐसे तत्व की बात कहता है जिसे उसकी अन्तरात्मा अनुभव करती है वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है लेकिन फिर भी वह ग्राह्य नहीं है । न तो वह मन, बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य ।[१] द्विवेदी जी ने स्पष्टरूप से यह मत प्रतिष्ठित किया है कि हमारे यहां धर्म, दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है, वह है सांसारिक अभ्युदय नि:श्रेयस की प्राप्ति किन्तु धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता नहीं रहा है । 'अथातोधर्मव्याख्यास्यामः' यह वैशेषिक जैसे - भौतिक दृष्टिकोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है । हमारे यहां सांसारिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा नहीं की गयी है और न ही उसे जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है ।

विवेचना :-

प्राचीन भारतीय दर्शन भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है । द्विवेदी जी ने इस विषय में स्पष्ट किया है कि इतिहास की अटकलबाजी लगाने या वैज्ञानिकता का ढोल बजाने से दर्शन के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता - - - - - - - - दर्शन में जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन किया जाता है । द्विवेदी जी की धारणा है कि दर्शन में जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन किया जाता है ।भारतीय दर्शन अपने आदिकाल से ही जीवन के परमलक्ष्य और प्रयोजन की खोज करते

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ २७८

चले आये हैं । धर्म ग्रन्थ बतलाते हैं कि जीवन का ध्येय मोक्ष है लेकिन मोक्ष का स्वरूप और उसके उपाय क्या हैं ? यह दर्शन बतलाता है । मोक्ष का पारिभाषिक अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा । भारतीय दर्शन का विश्वास है कि जब तक प्रत्येक नये जन्म में शरीर से सम्पर्क रहता है तब तक दुख निवृत्ति नहीं हो सकती ।

ईसाई धर्म तथा इस्लाम में ईश्वर को आत्मा का सृष्टा बताया जाता है और आत्मा को ईश्वर नष्ट भी कर सकता है किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा अनादि अजर और अमर है । सांख्य तो पुरुष से भिन्न ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता । योग दर्शन में ईश्वर का नामोल्लेख तो है पर वह ईश्वर सृष्टि कर्त्ता नहीं है । अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है । अनात्मा को मायामय जानकर उसमें आत्मा का परित्याग कर आत्मा अपने स्वरूप को पहचानता और मुक्त होता है । मुक्ति की धारणा भारतीय दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण देन है । भारतीय दर्शन के अनुसार सकाम कर्म ही बन्धन के हेतु होते हैं । गीता में निष्काम भाव से कर्म करने को कहा गया है । द्विवेदी जी ने 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' निबन्ध में लिखा है जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है वह सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता । यह भारतवर्ष की अपनी विशेषता है । भारतीय धर्म और दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं । प्राय: इनमें भेद करना कठिन हो जाता है । केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का उद्देश्य आध्यात्मिक जगत के रहस्यों का उद्घाटन करना है ।

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में दार्शनिक चिन्तन :-

भारतीय दर्शन के मूल तत्व बहुत गूढ़ हैं । जिस प्रकार जीवन को समझने के लिए उसके सभी अंगों का व्यष्टि, समष्टि एवं समन्वय रूप में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है उसी प्रकार भारतीय दर्शन की व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय रूप में समझना भी नितान्त आवश्यक है । किन्तु द्विवेदी

जी ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा एवं गहरी पैठ तथा विशद अध्ययन द्वारा दर्शन के गूढ़ तत्वों को सरल रूप में प्रस्तुत किया है ।

अपने दार्शनिक विचारों और चिन्तन में द्विवेदी जी ने साहस और सहिष्णुता का परिचय दिया है । उन्होंने दर्शन के गूढ़ विचारों को साहित्य की साधना बताते हुये उसका सम्बन्ध पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र, प्राणि-विज्ञान आदि के साथ स्थापित किया है । इसी कारण उनके दार्शनिक विचार प्राचीन भी लगते हैं और आधुनिक भी । द्विवेदी जी ने मनुष्य को केन्द्र बनाकर दर्शन को जन-आन्दोलन से जोड़ने का प्रयत्न किया और सिद्धों तथा सन्तों की वाणी की नई व्याख्या की । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में एक ओर तो वे आह्वान करते हैं कि 'भारत के पुत्रों ! आंधी की भांति बहो, तिनके की भांति म्लेच्छवाहिनी को उड़ा ले जाओ । संकट के भय से आतुर होना तरुणाई का अपमान है, यवनों के अनन्त दस्यु आ रहे हैं । वहीं दूसरी ओर वे आग्रह करते हैं कि पश्चिम की ओर से गिरिकन्दरों के उस पार से जो आ रहे हैं वे समानता का मंत्र लेकर आये हैं और सड़े-गले आचारों को चुनौती देकर अपार साहस लेकर उद्भूत हुए हैं । उनकी तुलना में आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये हैं । यह भगवान का बनाया विधान नहीं है, असत्य है । आगे चलकर वे अघोर भैरव से कहलाते हैं कि देख रे, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हर समय साथ-साथ नहीं चलते । देवी के चरणों में सिर रखकर शपथ कर कि तू सीधे जनता से सम्पर्क रखेगा । किसी को छोटा और किसी को बड़ा नहीं मानेगा, धरती को बपौती नहीं, धरोहर समझेगा' । द्विवेदी जी के साहित्य से हमें जो दार्शनिक बोध होता है उसका विवरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है ।

चरम सत्ता या ब्रह्म और जीव :-

हमारे देश के ऋषियों, तात्विक चिन्तकों और सन्त महात्माओं ने ऊपरले स्तर पर मिलने वाली चेतना के अन्तराल में प्रवाहित विराट चेतना की ओर उस विराट इच्छा शक्ति के मूलस्रोत को खोजने के गहन प्रयत्न किये ।

बहुत पहले उन्होंने मनुष्य की महिमा का संधान पाया था। उपनिषदों में कहा गया है - जगत जो नाम और रूप में फैला हुआ है जिसमें अनेक कर्ता और भोक्ता हैं। जिसमें देशकाल और निमित्त से नियत कर्मों के फल मिलते हैं, जिसकी रचना के स्वरूप का विचार भी मन द्वारा नहीं किया जा सकता है। द्विवेदी जी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं - आनन्द ही ब्रह्म है यही परम सत्य है, अन्न (भौतिक पदार्थ) प्राण, मन, विज्ञान (बुद्धि) आनन्द (अध्यात्म तत्व) यही ज्ञान के पांच स्तर हैं।[1]

ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं - सकल वस्तु स्वरूप वह परब्रह्म नाम रूप और क्रिया से रहित है। जो इस जगत को माया के बल से सृष्टि करता है वह ईश्वर है, वही ईश्वर सब कुछ में प्रविष्ट हो रहा है।[2] कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने यह स्पष्ट किया है - यह स्फोट अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म तत्व का वाचक है। स्फोट को ही शब्द ब्रह्म कहा गया है - - - - - - इसका मतलब यह है कि ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है।[3] छान्दोग्य उपनिषद में भी यही बात कही गयी है, 'प्रकाश उसका स्वरूप है, सत्य उसका संकल्प'।[4] बृहदारण्यक में ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि ज्योतियों के ज्योति स्वरूप उस अमृत की उपासना देवगण करते हैं।[5] इसका अर्थ यह है कि नाम, रूप, क्रिया, कारक, फल इस समुदाय की जो अभिव्यक्ति है वह ब्रह्म ज्योति की सत्ता से होती है, जैसे सभी रूपों की अभिव्यक्ति का कारण सूर्य का प्रकाश स्वरूप है। द्विवेदी जी ने इस दार्शनिक सत्य की पृष्ठभूमि में ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह जो कुछ दिखाई दे रहा है पर चलता नहीं, सांस नहीं लेता, सोचता

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २०५

२- वही , खण्ड ४, पृष्ठ ८७-८८

३- वही , खण्ड ३, पृष्ठ ८७-८८

४- छान्दोग्य उपनिषद - ३।१४।२

५- बृहदारण्यक - ४।४।१६

नहीं, समझता नहीं, बोलता नहीं, बल्कि निश्चेष्ट, निस्पन्दन और वर्तमान है, केवल `है` मात्र है - - - - - - - - वह भी उसी पर तत्व की अपेक्षाकृत सूक्ष्म अभिव्यक्ति है[1]। द्विवेदी जी ने उपनिषदों की इस मान्यता को स्वीकार किया है कि ब्रह्म सत्रूप भी है, चित्रूप भी है और साथ ही साथ उसका एक और भी रूप है और उसी रूप के लिये यह सम्पूर्ण सत्ता है, सम्पूर्ण चेतना है। वह उसका आनन्द रूप है।

उपर्युक्त मीमांसा से यह स्पष्ट होता है कि जीवन और दर्शन दोनों का मुख्य उद्देश्य एक ही है और वह है परमानन्द या उसकी प्राप्ति। इसी को परमात्मा, परब्रह्म, परमसत्ता, ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। यही है `देखने का विषय`। इसीलिये श्रुति में कहा गया है (आत्मा वा रे दृष्टव्य:)। परमसत्ता या ब्रह्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये द्विवेदी जी ने यह प्रश्न उठाया है कि परमतत्व के देखने के क्या उपाय हैं ? और वह किस प्रकार अपने को अभिव्यक्त करता है। वस्तुत: इसी से ही सृष्टि का स्फुरण हुआ और सर्वेच्छा हुई। द्विवेदी जी कहते हैं जो निश्चेष्ट है, निर्गुण है वह सृष्टि कैसे कर सकता है और क्यों करता है - - - - - क्यों उसके मन में इच्छा हुई, कौन बतायेगा ? प्रसाद जी ने इच्छा को `अभाव की चपल बालिका` कहा है परन्तु जिसे कोई अभाव नहीं है जो केवल भावरूप ही है - - - - उसके चित्त में यह प्रथम इच्छा, प्रथम सिसृक्षा कैसे हुई यह बड़ा कठिन प्रश्न है ; परन्तु हुई अवश्य - -- - - - - - - यह परतत्व की अपरतत्व में बदलने की जो व्याकुलता है, जो अपने को द्विधा करके रमण करने की लालसा है वही समस्त सृष्टि के मूल में है। उसे सिसृक्षा कहिए, माया कहिए, शक्ति कहिए - नाम में क्या रखा है, वह इसके स्वभाव में है। स्वभाव अर्थात् अपना होना, अपनी सत्ता।[2] अपने इस विचार के संदर्भ

१- ह० प्र० ग्रन्थाव०, खण्ड ५, पृष्ठ १३०

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ १३१

द्विवेदी जी ने बहु चेतन के द्वन्द्व जीवतत्व के विकास और इच्छाशक्ति के उन्मेष की चर्चा करते हुये परमतत्व की अभिव्यक्ति और उसको देखने के उपायों की विस्तृत चर्चा की है । 'एक तरफ अवतार हो रहा है दूसरी तरफ उद्धार । एक तरफ अवतार का अनुग्रह और उद्धार का आग्रह ही सृष्टि लीला नहीं है'। ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी कहते हैं 'एक परमात्मा ही अखण्ड और सर्वशक्तिमान सत्ता है और उसी की आज्ञा से यह समस्त चराचर जगत प्रचालित हो रहा है । वह तुक्ष्मी निराकार है और उसी के हुक्म से सब कुछ आभासित है[1]। x x x भगवान केवल सत्तामय या चिन्मय नहीं है । चिन्मय रूप उनका एक अंश है । इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं । इस ऐश्वर्य रूप को तत्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते हैं, परन्तु भगवान का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है । यही भगवान पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया करते हैं[2]। द्विवेदी जी के चरम सत्ता अथवा ब्रह्म सम्बन्धी विचारों से हमारे दार्शनिक भावों को उत्तेजना मिलती है और साथ ही यह भी विदित होता है कि भारतीय मस्तिष्क प्राचीन परम्परा से ही सर्वोपरि परब्रह्म जीवन के उद्देश्य और मनुष्य का विश्वात्मा के साथ सम्बन्ध और माया मोक्ष आदि प्रश्नों के समाधान में परिश्रम पूर्वक लगा रहा है ।

माया और मोक्ष के सिद्धान्त :-

उपनिषदों के अनुसार जगत का अस्तित्व प्रकृति से है । प्रकृति ब्रह्म की माया है । प्रकृति माया के रूप में जगत् के कार्यों का संचालन करती है । माया के रूप में प्रकृति जिन तत्वों द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करती है वे हैं - चार देहधारी उद्भिज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज । पांच कर्मेन्द्रियां हैं— वाक्, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ । नौ ज्ञानेन्द्रियां — चक्षु,

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २३३

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३४०

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा विकार ।
गीता में माया को ईश्वर की दैवी शक्ति माना गया है । यह सदैव
ईश्वर के साथ रहती है । माया अचिन्त्य है अतएव इसे न सत् न असत्
कहा जा सकता है । वेदान्त की भांति गीता में माया को अविद्यास्वरूपा
नहीं कहा गया है । माया दृश्य जगत् की अधिष्ठात्री है । गीता में माया-
मय भगवान के दो भाव बताये गये हैं-पराभाव और अपराभाव । शंकर ने
अविद्या और माया में कोई भेद नहीं किया है । वे माया से आच्छन्न
ब्रह्म को ईश्वर तथा अविद्या और माया में कोई भेद नहीं किया । वे माया
से आच्छन्न ब्रह्म को ईश्वर तथा अविद्या से आच्छन्न ब्रह्म को जीव कहा है ।
उनके अनुसार माया `ब्रह्म` के समान `सत्` नहीं है यह त्रिगुणात्मिका
और ज्ञानविरोधी है[1]।

द्विवेदी जी ने माया के स्वरूप का वर्णन करते हुये लिखा है -
जागृत स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था रूप जो माया है वही त्रैलोक्य
का कारण है । जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस माया के कारण ।
माया के प्रभाव से परमतत्त्व का वास्तविक रूप ढका रहता है । यह माया
विचित्र है, न तो यह परम पुरुष या ब्रह्म के समान सत् है और न असत् ।
विशेष खोज करने पर यह पता चलता है कि माया को `कला`, विद्या,
राग, काल तथा नियति इन पांच तत्त्वों ने घेरा हुआ है, ये माया के
कंचुक कहे जाते हैं ।

द्विवेदी जी ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है -`काल,
नियति, राग, विद्या, कला ये माया के पांच कंचुक हैं । इन्हीं से शिवरूप
व्यापक चैतन्य आवृत्त होकर अपने को जीवात्मा समझने लगता है[2]।` माया
के इन कंचुकों का भेद करने पर माया से छुटकारा मिलता है । छुटकारे से

१- ह० प्र० ग्रन्थां, खण्ड ४, पृष्ठ २८४

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३७७

पर्व को जो स्थिति होती है उसके विषय में द्विवेदी जी कहते हैं- `माया हमारे मन में है ये हमारी ही सृष्टि है, अज्ञान ही माया है, मूढ़ता ही माया है । सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है । सारा संसार इस माया के जाल में फंसकर भटक रहा है ।[1]` द्विवेदी जी लिखते हैं -`पुरुष चित्त के कल्मष की सृष्टि ही इसलिये हुई है कि वह माया प्रपंच को क्रियाशील बनाये रखे[2]` । उन्होंने विशुद्ध दार्शनिक स्वर में कहा है- `बाह्य जगत की जानकारी माया मूल होती है उसे पाकर मनुष्य और भी उलझता है, और भी कल्पना, विलास की ओर अग्रसर होता है । अपनी ही कल्पनाओं के ताने[3] बाने से अपने को ही उलझाने वाली जानकारियों का जाल बुनता है ।`

मायाके प्रपंच में फंसने वाले जीव की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं - `जो मन्मुख होता है उसे ममता सताती है वह पुत्र कलत्र की ध्वनि सम्पत्ति को अपना समझ कर `मेरा` `मेरा` के चक्कर में पड़ा रहता है । इसी का नाम भवजाल है[4]। `मैं` और `यह` दोनों बराबर महत्त्व के हैं । अभी भी द्वैत स्पष्ट है अतएव जिज्ञासु अद्वैत की खोज में पुन: अग्रसर होता है किन्तु अग्रसर होने से पूर्व उसमें `घर जोड़ने की माया बड़ी प्रबल` है । संसार का विरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता है । इतनी प्रबल शक्ति के यथार्थ को उलटा नहीं कहा जा सकता । उसको मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है[5]। अद्वैत की खोज में अग्रसर होने पर पुरुष की प्रपंच के साथ

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १, पृष्ठ ३८०

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ३१३

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २२५

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २४६

५- वही , खण्ड ८, पृष्ठ १०५

तादात्म्य का बोध होता है और यह `मैं` हूं ऐसा बोध को अनुभव होने लगता है । इस दशा में `यह` प्रधान होता है । `जब यह मनुष्य को अपने आप तक ही सीमित रखते हैं तो ये बन्धन बन जाते हैं । परन्तु जब ये मनुष्य को अपने ऊपर वाले तत्व की ओर उन्मुख करते हैं तो मुक्ति के साधन बन जाते हैं ।[1] इस अवस्था में पुरुषा या आत्मा को ईश्वर तत्व कहते हैं । अब धीरे-धीरे यह `अंश` मय में लीन हो जाता है और `मैं हूं` और ऐसी प्रतीति बोध को रह जाती है । इस अवस्था को शिवत्व कहते हैं । इसके उपरान्त `हूं` को भी दूर करना आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में पुरुषा सूक्ष्म भूमि में प्रवेश करता है, इस अवस्था को शक्ति तत्व कहते हैं । इसी अवस्था में जिज्ञासु को परमतत्व के वास्तविक स्वरूप का परिचय होता है ।

द्विवेदी जी ने भी अज्ञानता को माया के कारण व्याप्त माना है -`ज्ञान के न जाने का कारण माया है, माया से बद्ध जीव इस बात को गलत समझता है ।[2] माया का विच्छेद होने पर जिज्ञासा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, यही गन्तव्य है, यही परमतत्व है और दर्शनशास्त्र तथा जीवन का परमतत्व है । इस अवस्था को प्राप्त कर जीवन-यात्रा समाप्त होती है, द्विवेदी जी कहते हैं आत्मा को जब अपनी और प्रकृति या माया की वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो जाता है तभी वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ।[3]

धर्म ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप और उपाय दर्शन बताता है, भले ही प्रत्येक दर्शन इसकी अलग-अलग व्याख्या करता है । द्विवेदी जी ने लिखा है -`कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है - - - - - प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३७४

२- वही , खण्ड ९, पृष्ठ ६१

३- वही , खण्ड ८, पृष्ठ १६०

कि उसके लिये कर्म का फल दूर नहीं हो सकता । चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिये कर्म की दुहाई देता है । ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिये भी कर्म की दुहाई देता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के लिये जवाब देह है[१]। द्विवेदी जी के ही शब्दों में 'मोक्ष तो वह है जब सहज ही मनुष्य समाधि लगा सके और उस सहज समाधि द्वारा ही स्वयं अपने मन से अपने मन को देखने लगे ।[२]' निश्चय ही अपने मन से मन को देखने से कर्म के प्रति मनुष्य सजग होगा । 'ज्ञान होने पर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं पर प्रारब्ध कर्म तो भोगना ही पड़ता है - - - - - - - - - - जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर तक चलता रहता है ।[३]'

इस प्रकार द्विवेदी जी के दार्शनिक चिन्तन में माया उस अभावात्मक तत्व का नाम है जो सर्वव्यापक सत्ता को उन्मूलन कर देती है जिससे अतृप्त उत्तेजना और निरन्तर रहने वाली अशान्ति का जन्म होता है। जगत के पदार्थ अपनी वास्तविक सत्ता को पुन: प्राप्त कर अपने अन्दर के अभाव को पूर्ण कर अपने व्यक्तित्व को उतार फेंकने के लिये सर्वदा संघर्ष करते हैं और इस संघर्ष में माया बराबर बाधा उपस्थित करती है और यदि हम माया से छुटकारा पा सकें तो देश, काल परिवर्तन परमतत्व में वापस पहुंच जाते हैं । माया यथार्थसत्ता की प्रतिच्छाया मात्र है ।

जड़ और चेतन :-

द्विवेदी जी का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य विवेक और संकल्प-शक्ति से युक्त होने के कारण सृष्टि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी बना

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २९६

२- वही. , खण्ड १, पृष्ठ ३८०

३- वही , खण्ड ८, पृष्ठ १६०

है । मनुष्य ने प्रकृति की दासता नहीं स्वीकार किया, अपितु उसे अपने अनुरूप मोड़ने का प्रयास किया । जड़ से चैतन्य और चेतन से मन, बुद्धि तथा मन, बुद्धि से मनुष्यत्व का विकास एक चकित कर देने वाली घटना है । जब कभी मैं इस इस मनुष्य की उत्पत्ति की बात सोचता हूं तो अपने रक्तकणों से एक अपूर्व झनझनाहट का अनुभव करता हूं । जानते हो । जड़ में सबसे बड़ी शक्ति है, आकर्षण की शक्ति अर्थात् ग्रैविटेशन पावर । वह चेतन को नीचे खींचता है, लेकिन खींच नहीं पाती । चेतन की उर्ध्वमुखी वृत्ति निरन्तर उठती जाती है । मनुष्य में यह जड़-चेतन दोनों ही हैं । - -- - - - - यह चैतन्य का उल्लास ही वास्तविक मनुष्य है ।

विज्ञान तथा लोकमंगल :-

विज्ञान विकास की व्याख्या करता है । वह मंगल, अमंगल अथवा सुन्दर-असुन्दर में भेद नहीं करता । दर्शन का पथ विज्ञान से पृथक है । वह लोकमंगल तथा आत्ममंगल को लक्ष्य करके विकास की व्याख्या करता है । द्विवेदी जी ने विज्ञान और दर्शन के इस भेद को अपने दार्शनिक चिन्तन से स्पष्ट किया है । वे लोकमंगल को दृष्टिगत करते हुये साथ ही वे विज्ञान प्रसूत मान्यताओं को यथासम्भव आत्मानुरूप ग्रहण भी करते हैं। उनका चिन्तन सामाजिक, दार्शनिक का है । उनके समस्त लेखन के साक्ष्य पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि उन्हें उस   में आस्था है जिसका पर्यवसान पूर्ण चेतनावाद में है । इसी कारण उन्हें चिन्मुख मानवतावादी भी कहा गया है । द्विवेदी जी ने `अनामदास का पोथा` में स्पष्ट कहा है कि मानवीय मूल्यों के आचरण का पर्यवसान शिवमंगल के साथ-साथ शिवात्मक और शिवातीत, चिदानन्दमय रूप में होना चाहिए । `सहज साधना` में लिखते हैं, जो आचरण चिन्मुख है, वही श्रेष्ठ है । जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्वपूर्ण है । इससे सिद्ध होता है कि द्विवेदी जी की जिस तत्व

दृष्टि में आस्था है वह आत्मवादी है । आत्मवादी दृष्टि पूर्णतावादी होती है और पूर्णतावादी अन्तत: सत् कार्यवादी होती है ।

मानव में देवता :-

द्विवेदी जी ने अपने दार्शनिक चिन्तन में उस अन्तर्यामी को प्रमाण मानते हैं जो देवता के रूप में मनुष्य के अन्दर विराजमान हैं, 'देख रे तेरे शास्त्र तुम्हें धोखा देते हैं, जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलने को कहते हैं, जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं ।[1] ... किसी की बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक स्वयं उसको परीक्षा न कर ली जाय । तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध रूप से बैठे हैं उनको पहचानो । वे तुम्हारा ठीक मार्ग-दर्शन करेंगे । वही प्रज्ञा रूप है[2] । किन्तु अन्दर के देवता को प्रमाण मानते हुये लोक की उपेक्षा नहीं करते । द्विवेदी जी के अनुसार - 'सारा चराचर जगत उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अंश तुम्हारे अन्तरतर में प्रकाशित हो रहा है[3] । इस प्रकार मनुष्य और दृष्टि में तारतम्यता स्थापित करते हैं और परम वैश्वानर एवं महा अज्ञात के प्रति समर्पण की बात करते हुए लोकमंगल की स्थापना करते हैं ।

'आचार्य द्विवेदी जी और उनका मानवतावादी दार्शनिक चिन्तन'

का अर्थ और तात्पर्य :-

' ' एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग न केवल दार्शनिक बल्कि सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में भी होता है । एक

१- बाणभट्ट की आत्मकथा - पृष्ठ ७४

२- का पोथा - पृष्ठ १५२

३- वही - पृष्ठ १५२

दार्शनिक प्रवृत्ति है जिसे हम कई विचार-पद्धतियों में पाते हैं । आध्यात्मिक व्यक्तिवाद, अर्थक्रियावाद, अस्तित्ववाद, यहां तक कि मार्क्सवाद भी मूलत: मानवतावादी प्रकृति की विचारधाराएं हैं, क्योंकि इन सभी का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है ।

मानवतावाद, जैसा कि शब्द से स्पष्ट है मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करता है । यूनानी दार्शनिक प्रोतागोरस का सुप्रसिद्ध सूत्र `मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है` मानवतावाद की मूलभूत भावना है । वे सम्पूर्ण दार्शनिक और नैतिक सिद्धान्त जो मनुष्य और उसकी व्यवहारिक समस्याओं से अलग हैं, जो केवल शास्त्रीय पाण्डित्यपूर्ण, अमूर्त, दुर्बोध, शुष्क और साम्प्रदायिक हैं, मानवतावादी प्रकृति के विरुद्ध हैं ।

मानवतावाद का अंग्रेजी पर्याय `ह्यूमैनिज्म` `ह्यूमैनिटास` से निकला है, जिसका अर्थ मनुष्य की शिक्षा से है । मनुष्य की ऐसी शिक्षा जो उसे जीवधारियों से भिन्न बनाती है और उसके व्यवहार को इस प्रकार अनुशासित करती है कि वह पाशविक और बर्बर न रहे तथा पशुओं की अपेक्षा वह अपनी श्रेष्ठता को अभिव्यक्त कर सके । `प्राणियों की सीमा छोड़कर पशुतुल्य आहार निद्रा के धरातल से ऊपर उठकर ही मनुष्य उस महिमा को पाता है जो उसे देवता बनाते हैं । संक्षेप में इसी गुण को मनुष्यता कहते हैं[1]। वह नैतिक दृष्टि है जो आवश्यक रूप से मनुष्य के व्यवहारिक पक्ष से सम्बन्धित है ।` त्याग, तप, परोपकार, सेवा, पर दुख कातरता इसी आदर्शवादी विचारधारा की देन है[2]`। भारतीय प्राचीन धर्म ग्रन्थों पर विशेषत: उपनिषदों की शिक्षा पर आधारित है । इसमें मानव देह को देवालय माना गया है और इसी में अन्तर्यामी देवता को प्रतिष्ठित किया गया है । मनुष्य के

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ १२६

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ १२६

एक प्रतिष्ठित स्थान देता है । उसके अनुसार अंतिम सत्ता मानवीय न होकर आध्यात्मिक है, भले ही इस आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मनुष्य में ही क्यों न हुई हो । हमारा परम लक्ष्य `मनुष्यत्व` है । मध्ययुग में जिस बात को आध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुत: इस युग का मनुष्यत्व है । मनुष्य ही भगवान का प्रत्यक्ष विग्रह है, मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है[१]। द्विवेदी जी दृढ़ता से अद्वैतवादी विचारधारा का अनुमोदन करते हैं और अपने पक्ष की पुष्टि में उपनिषदों से महावाक्यों को उद्धृत करते हैं । द्विवेदी जी के मानवतावादी चिन्तन में हमें आरम्भ से एक छटपटाहट दिखाई देती है । दर्शन को वे यथार्थ की तात्विक व्याख्या मानते हैं । वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों आदि में इस तात्विक व्याख्या के अन्तर्गत बाद में ज्ञान, उपासना और कर्मकाण्ड के रहस्य जुड़ गये । इस प्रक्रिया में ब्रह्म और पारलौकिक सत्य के अनुसन्धान करने में मनुष्य कहीं खो गया । द्विवेदी जी के अनुसार यह एक बहुत बड़ी त्रासदी थी । कबीरदास ने मनुष्य को खोजने का प्रयास किया । तुलसीदास जी ने भी उसकी प्रतिष्ठापना करना चाहा । द्विवेदी जी ने `अनामदास का पोथा` में मनुष्य को खोजने का प्रयास किया - महर्षि औषस्ति रैक्व को समझाते हैं -- `एकान्त बड़ा तप नहीं है । देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है । लोग दुख से व्याकुल हैं । उनमें जाना चाहिए । उनके दुख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो । यही वास्तविक तप है । जिसे यह सत्य प्रकट हो गया कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुख कष्ट से अधीर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है । द्विवेदी जी की दृष्टि में मनुष्य ही मुख्य है । शेष सभी बातें गौण हैं ।

`जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, और परमुखापेक्षिता

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ २७७

से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य में कहने में मुझे संकोच होता है।[१] इस प्रकार मनुष्य का लक्ष्य अपनी दुर्बलताओं से ऊपर उठना है और उस मनुष्यत्व को प्राप्त करना है जिसके द्वारा प्राणि-मात्र के भीतर एकत्व की अनुभूति सम्भव हो। मनुष्य को उसकी स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाना उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, उसे परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना........काव्य का काम है।[२] यही उनके दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य है। द्विवेदी जी मानव को परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि मानते हैं। मानव की शक्ति कोई इयत्ता नहीं है उसके विकास की सम्भावनायें अपरिमेय हैं। वे मानव के निरन्तर विकास के प्रति पूर्णत: आश्वस्त हैं - क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि समस्त गलतियों के बावजूद मनुष्य मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर ही बढ़ रहा है।[३] द्विवेदी जी समस्त मानव-समाज की प्रगति करते ही देखना चाहते हैं.....मेरा विश्वास है - - - - हम तो ऊपर उठेंगे ही सारे संसार को भी - - - - - - - - मौका मिले[४]।

द्विवेदी जी की मानवतावादी चिन्तन पद्धति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श प्रतिध्वनित होता है। - - - - - मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को हटाकर परस्पर सहयोग के बन्धन में बांधना। मनुष्य का सामूहिक कल्याण ही हमारा लक्ष्य हो सकता है, वही मनुष्य का सर्वोत्तम प्राप्य है।[५]

आचार्य जी के   की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वे मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही लिखते हैं और मनुष्य के रूप में लिखते हैं।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ २४
२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २१८
३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २०३
४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २०८
५- वही

प्रसंगवश मानवतावादी दृष्टिकोण की मीमांसा भी करते हैं । द्विवेदी जी के निबन्धों में मानवता का विवेचन मुख्यत: हुआ है । उनकी लेखन शैली मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण है । उन्हें जरा सी ठोकर लगते ही मानवीय दुर्बलताओं की याद आ जाती है और मानव जाति का समस्त इतिहास उनकी आंखों के सामने घूम जाता है, `मनुष्य समस्त संस्कारों, समस्त आरोपित मूल्यों और समस्त रीति-रस्मों से बड़ा है । मनुष्यता की निरन्तर प्रवहमान धारा नाना मूलों से शक्ति संग्रह करती हुई आगे बढ़ती आ रही है । मनुष्य का इतिहास इन्हीं साधनाओं का इतिहास है ।`[1]

साहित्य के क्षेत्र में मानव एवं मानवता - विषयक उनकी धारणाएं और अधिक स्पष्ट हैं । वह मनुष्य को ही मानव के समस्त प्रयत्नों का उसकी समस्त साधनाओं का लक्ष्य मानते हैं । `आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिये बलि होने की उमंग पैदा करें और अपने अधिकारों के लिये मिट जाने के लिये आकण्ठ साहस का संचार करें[2] ।

द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य के प्रशंसक हैं । प्रगतिशील साहित्य संसार में नये सिरे से क्रान्ति के बीज वपन करने का स्वप्न देखता है । मार्क्सवाद उन्हें इसी कारण आकर्षित करता है क्योंकि वह मनुष्य को भाग्यवादी बनने से रोकता है । द्विवेदी जी मानव की महिमा स्वीकार करते हुए लिखते हैं जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग-शोक, दारिद्र्य, अज्ञान - ---- - उसमें आत्मबल का संचार करता है वह निश्चय ही अक्षयनिधि है । मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूं - - - - - कि इस विषम परिस्थिति को बदल सके[3] ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ १५०

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १९८

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ २५

निष्कर्ष --

द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में आध्यात्मिक मूल्यों का पुनर्स्थापन किया है । वे पश्चिम के संशयवादी भौतिकतावाद के स्थान पर पूर्व के आदर्शवादी रहस्यवाद के उन्नायक हैं । हम उन मानवीय मूल्यों को नष्ट भी नहीं होने देना चाहते जो हमारी दीर्घकालीन संस्कृति के मनोहर परिणाम हैं[१] । उनका धर्म-दर्शन विपरीत मान्यताओं का अलौकिक गुच्छ है । वे आत्मा और परमात्मा की पृथक स्थिति को मानते हुये भी दोनों में सामंजस्य का प्रतिपादन करते हैं । प्रेम में परमात्मा की पूर्णता का दर्शन करते हुये वे उच्चतम आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति करते हैं । वे मानव की नैतिक प्रकृति में विश्वास रखते हैं ।

द्विवेदी जी ने मानव की आत्मा में अनन्त एवं अविनाशी ईश्वर का वास माना है । परम सत्य की प्राप्ति के लिये परमात्मा का पुरुष के रूप में अवतरण तथा पुरुष का अनंत के साथ विलीनीकरण ही सबसे बड़ा सत्य है । ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि में मानव-गरिमा को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है । मानवता का सार्वभौमिक स्वरूप जीवन में परम सत्य, कल्याण एवं सौन्दर्य की प्राप्ति द्वारा सर्वशक्तिमान परमात्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है । वे भौतिक तत्व को जीवन के लिये उपयोगी मानते हुए भी उसकी अनिवार्यता को आध्यात्मिक चेतना का प्रतिगामी मानते हैं । सार्वभौम मानव-मन तथा व्यक्तिगत मन के मध्य समन्वय ही सच्चा मानव धर्म है । मनुष्य के सम्बन्ध में उन्होंने निश्चय ही बड़ी गहराई से सोचा है और मनुष्य के रूप में जैसे उन्होंने अपना सत्य भी पा लिया । मनुष्य या मनुष्य की रचना के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है, इस अभिव्यक्ति का रहस्य ही मनुष्य की मनुष्यता है । वह जो कुछ अनुभव करता है उसे   बनाने के लिये व्याकुल है । अनादि काल से चली

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ४२२

जाती हुई सहजात अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह अभिव्यक्ति मनुष्य की निजी विशेषता है[१]।

मानवतावाद निश्चय ही एक आदर्शवाद है जिसका प्रतिपादन आदि-काल से बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुष करते आये हैं। किन्तु द्विवेदी जी का मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है जो इतिहास और विज्ञान का समन्वय करके चलता है, `काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज है, वे परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं[२]। द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा है - सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते हैं, `सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिये किया जाता है।

इस प्रकार द्विवेदी जी की विचारधारा क्रान्तिकारी होते हुये भी उदार, सहिष्णु और सामंजस्यपूर्ण है। वे मनुष्य के चरम हित की कामना करते हुये भी उसे मनुष्य के रूप में ही देखना चाहते हैं।

-

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ६६

नैतिकता

नीतिशास्त्र की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि नीतिशास्त्र दर्शन का वह पक्ष है जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है । इस विवेचन में औचित्य और अनौचित्य तथा शुभाशुभ का विचार विशेष रूप से होता है और यथासम्भव नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है । नीतिशास्त्र का झुकाव कभी तत्व मीमांसा की ओर रहता है और कभी कर्म दर्शन की ओर[१] ।

नीति बोध के अन्तर्गत जिन तत्वों पर विचार किया जाता है उनमें आचार और धर्म विशिष्ट हैं । नैतिक बोध और आचरण के दो पहलू हैं । प्रथम में वे नैतिक गुण आते हैं जो व्यक्ति में साहस, उदारता आदि कुछ गुण व्यक्तित्व को आदर और श्रद्धा का पात्र बनाते हैं । दूसरे नैतिक गुण सामाजिक व्यवहार में तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में प्रतिफलित होते हैं । प्रत्येक मानव में ऐसी प्रवृत्ति होती है जिसका वह क्रमशः विकास करते हुये सच्चिदानन्द बन जाता है, जो सत्कर्म मानव के सच्चिदानन्द बनने में सहायक होते हैं । उन्हें आचार कहा जाता है । स्वतः अपने प्रति और अन्य सामान्य अथवा असामान्य व्यक्तियों के प्रति जो कर्तव्य होते हैं । वे व्यक्तिपरक आचार कहलाते हैं ।

महाभारत में कहा गया है कि श्रेष्ठ पुरुषों का व्यवहार आचार कहलाता है[२] । आचार से कीर्ति की प्राप्ति होती है । सदाचार आदि गुणों का सन्निवेश होता है । आचार का ही विशेष अंग धर्म है । सामान्य व्यवहार नीति को आधार करते हैं जबकि धर्म के अन्तर्गत श्रुति, स्मृति प्रतिपादित कृत्य, दया आदि धार्मिक नियमों के परिपालन पर विचार किया जाता है ।

१- मानविकी पारिभाषिक कोष - दर्शन खण्ड, पृष्ठ ८०

२- साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचार लक्षणं -

नैतिकता का तात्पर्य :-

भारतीय संस्कृति में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। मनु ने कहा है - राग द्वेष से रहित ज्ञानकार लोगों द्वारा सेवित या आचरित बात ही धर्म है। यहां पर धर्म से तात्पर्य नैतिकता से है। आचार्य की परिभाषा देते हुये यह कहा गया है कि जो केवल उपदेश देता है वह आचार्य नहीं होता, अपितु जो स्वयं सच्चे आचार का पालन करता है और शिष्यों से भी पालन कराता है। सच्चा आचार्य वही होता है। भारतीय धर्म और दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये कर्म की आवश्यकता है। बिना पवित्र कर्म के अन्त:करण का मल दूर नहीं हो सकता और अन्त:करण की शुद्धि हुए बिना वह दूर नहीं होगा और न ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी कारण वेदों में ज्ञान के सन्दर्भ में पवित्र आचरण तथा शुद्ध कर्मों के लिये केवल उपदेश ही नहीं वरन् देवताओं से प्रार्थना भी की गयी है। ऋषियों की तपस्या का वर्णन तथा देवताओं के प्रति की गयी स्तुतियों का वर्णन वेदों में है। यह तपस्यायें तथा स्तुतियां नैतिकता के ही अन्तर्गत आती हैं। इन नैतिकताओं के अन्तर्गत ऋषियों को अपने आचरणों को पवित्र रखना अत्यावश्यक था। परमतत्व की प्राप्ति के लिये पवित्र आहार, शुद्ध पान तथा निश्छल पवित्र विचार यह सभी बहुत ही आवश्यक है। इसके बिना कोई भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता।

प्राचीनकाल में नैतिकता की वृद्धि के लिये दुष्टों का दमन करने तथा साधुओं की रक्षा के लिये देवताओं की स्तुति की जाती थी। इन्द्र को 'ज्योतिषपति' कहा जाता था। पाप से लोग डरते थे। असत्य बोलना पाप था। लोग 'सूनृतावाक्' अर्थात् सत्य और प्रिय वचन बोलते थे। असत्य बोलने वालों से तथा मनुष्यों की हत्या करने वालों से लोग घृणा करते थे। लोभ, मोह, अभिमान क्रूरता आदि निन्दनीय कर्मों से तथा अच्छे कर्म में विघ्न देने वाले देवनिन्दक, चोर, कृपण आदि एवं दुष्ट कर्म करने वालों से वैदिक ऋषि घृणा करते थे।[1] नैतिकता युक्त देवताओं को

१- ऋग्वेद - १।१९।४।१।६०।२।६४।६।१।११९।६

पूत, व्रत, नासत्या, सत्यपरायण, सत्यधर्मा, सत्कर्मपालक आदि विशेषणों से सम्मानित किये जाते थे। भारतीय कर्मवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत अच्छे कर्मों से पुण्य और अनुचित कर्म करने से पाप और दु:ख मिलने की चर्चा भरी पड़ी है।

नैतिकता के आदर्श पर भारत में इतना बल दिया गया है कि अनैतिकता को पूर्व-पूर्व जन्मों में किये गये सत्कर्मों के नाश करने का कारण तक बताया गया है। इन सभी प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय सामाजिक जीवन में ही नहीं वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान और सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति में नैतिकता को आधार माना गया है। द्विवेदी जी ने शुद्ध आचरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'हमारे देश में धर्म को 'आचार प्रभव' कहा गया है, वह आचार से उत्पन्न होता है। जो बातें केवल चिन्तन और मनन तक ही सीमित होती हैं, वे तत्ववाद मात्र हैं। जब उन्हें ईमानदारी के साथ आचरण का विषय बनाया जाता है तब वे धर्म होती हैं।[1] वस्तुत: धर्म से द्विवेदी जी का तात्पर्य नैतिकता से है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने धर्म के माध्यम से नैतिकता के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुये 'अनाम दास का पोथा' (उपन्यास) में लिखा है, 'धर्म शुद्ध कर्त्तव्यों और आचरणों से प्रकट होता है।[2]' कर्त्तव्य और आचरण ही वस्तुत: नैतिकता को इंगित करते हैं। नैतिकता और धर्म के भेद को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, 'आजकल कुछ तत्वज्ञानी यह भी कहने लगे हैं कि ईश्वर और ब्रह्म की सत्ता माने बिना भी धर्म का आचरण किया जा सकता है।[3]'

नैतिकता स्वयं अपने आप में धर्म है, इस विचार को द्विवेदी जी ने स्वीकार करते हुये लिखा है, 'जो अपने आप की सुख सुविधा का ध्यान

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ४३८
२- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३५४
३- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३५४

न रखकर दूसरों के दुख दूर करने का उपाय करता है, सत्य से च्युत नहीं होता । दूसरों का कष्ट दूर करने के लिये अपने प्राण तक त्याग सकता है, वही धार्मिक है । वह परम या चरम तत्व के बारे में क्या मानता है यह बड़ी बात नहीं है । बड़ी बात है कि वह कैसा आचरण करता है । औरों के साथ कैसा व्यवहार करता है । उनके लिये कितना त्याग कर सकता है[1] ।

नैतिकता के अन्तर्गत सदाचार, सत्य, वचन-पालन विषय-वासनाओं का त्याग, इन्द्रियों पर वश रखना, कर्तव्य, अहिंसा, स्वप्रशंसा न करना, गुरुजनों का आदर, देव-परायणता, आध्यात्मिकता, कर्मप्रधानता, सहिष्णुता, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सर्वजनसुखाय, सर्वजन हिताय, असाम्प्रदायिकता आदि एवं मन, वचन और कर्म से जीवन के श्रेष्ठतम आचारों के प्रति निष्ठा रखना आदि की गणना की जा सकती है ।

नैतिकता का मापदंड :-

फर्कुहर महोदय ने लिखा है कि 'हिन्दू विचारधारा की परिधि के अन्दर कोई भी नीतिशास्त्र नहीं है ।'[2] किन्तु यह बात सर्वथा निराधार है। वस्तुतः भारत में समस्त जीवन को आत्मिक शक्ति से पूर्ण करने के प्रयास में नैतिकता की चर्चा पग-पग पर मिलती है । भारतीय नैतिकतावादी विचारधारा में यथार्थ सत्ता की श्रेणी से अगली श्रेणी में नैतिकता की भावना का ही अत्यन्त महत्व है । जहां तक वास्तविक नीति सम्बन्धी विषय का सम्बन्ध है ।बौद्ध मत, जैन मत तथा हिन्दू धर्म ने नैतिकता के व्यापक मापदण्ड स्थापित किये हैं । दैवीय ज्ञान की प्राप्ति के लिये नैतिकता की वृद्धि को पहला पग माना गया है । ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्म की आवश्यकता होती है और कर्म नैतिकता का प्रथम सोपान है । द्विवेदी जी ने नैतिकता के मापदण्ड के सन्दर्भ में आदर्श

१- ह० ग्रं० रत्ना०, खण्ड २, पृष्ठ ३५५

२- फर्कुहर 'हिबर्ट जर्नल' अक्टूबर १९२१, पृष्ठ २४

व्यक्तित्व की खोज की है - "ऐसा व्यक्तित्व जिसमें समग्र लक्ष्मी का निवास हो। ऐसा उदात्त व्यक्तित्व सम्पन्न मनुष्य जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में इतरा न उठे, विजय दर्प में क्षमा करना न भूल जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न चूके और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के अतल गाम्भीर्य में बहने वाली चरितार्थता की धारा की उपेक्षा न कर बैठे।[१]

महाभारत में यह चर्चा करते हुये कहा गया है जो पुरुष ऐश्वर्य चाहता है उसे निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, भय, क्रोध, दीर्घ सूत्रता आदि दोषों का त्याग कर देना चाहिए। जैसे - सूखे सरोवर के ऊपर हंस मंडराकर ही रह जाते हैं उसके भीतर प्रवेश नहीं करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चंचल है जो अज्ञानी और इन्द्रियों का दास है उसको अर्थ त्याग देते हैं।[२]

न सदैव तेज कल्याणकारी होता है और न ही सदा क्षमा ही श्रेयस्कर होती है। जो हमेशा क्षमा करता है, वह बहुत से दोषों को प्राप्त होता है इसीलिए क्षमा के अपवाद कहे गये हैं।[३] महाभारत के दूसरे प्रसंग में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी की निन्दा करता या उसे अपशब्द कहता हो, तो वह भी बदले में निन्दा या अपशब्द न कहे, क्योंकि जो व्यक्ति निन्दा या अपशब्द सह लेता है तो उस पुरुष का आन्तरिक दुःख ही अपमान करने वाले या अपशब्द कहने वाले को जला डालता है। साथ ही क्षमाशील व्यक्ति निन्दक व्यक्ति के पुण्य को भी खींच लेता है।[४]

द्विवेदी जी ने आदर्श व्यक्तित्व में जिस समग्रलक्ष्मी के निवास की बात कही है। उसका सीधा सा अर्थ यह है कि सभी प्राणियों के प्रति

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ५, पृष्ठ ६३
२- महाभारत - उद्योग पर्व, ३३।८८
३- महाभारत - उद्योग पर्व, ३६।४०
४- वही - ,, , ८७।७

दया और मैत्री का व्यवहार, दान, सबके प्रति मधुर वाणी का प्रयोग -- तीनों लोकों में इनके समान वशीकरण का कोई अन्य उपाय नहीं है। सौभाग्यशाली, निर्भीक, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधन में तत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, बढ़े हुये सद्गुणों से युक्त व्यक्ति को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, बड़े बूढ़ों की सेवा में तत्पर और सामर्थ्यवान है, वे ही लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं[1]। नैतिकता के मापदण्डों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने सुख की भी चर्चा की है, 'सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दांत निपोरना, चाटुकारिता, हां हजूरी[2]।' मिथ्याडम्बर रचना और छन्दावर्तन करना इन सभी को द्विवेदी जी मिथ्याचार मानते हैं और उस कुटज की प्रशंसा करते हैं जो सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है, वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है[3]। संसार के पदार्थों को पाप के प्रति झुकाने के लिये नहीं, अपितु आनन्द प्राप्ति के साधन के रूप में सृजित किया गया है। किन्तु संसार की वस्तुयें जो प्रकट रूप में भौतिक प्रतीत होती हैं। धार्मिक आत्मा की स्वतः प्रतिद्वन्द्वी है। व्यक्ति को इन वस्तुओं के पृथकत्व से संघर्ष करना पड़ता है और दैवीय शक्तियों की अभिव्यक्ति को स्वयं करना होता है। इसके लिये दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न पवित्र भावना, उच्च विचार, अनासक्ति, एकान्तवास, समाधि और जितेन्द्रियता आवश्यक है। नैतिकता के सन्दर्भ में जितेन्द्रियता एक आवश्यक उपादान है। द्विवेदी जी कहते हैं, 'जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुंजी है। वस्तुतः आजकल जिसे चरित्रबल कहा जाने लगा है, पुराना भारतवासी जितेन्द्रियता कहता था। अपने आदर्शों के प्रति अविचल

१- महाभारत - अनुशासनपर्व ११।१, ११।१०

२- कुटज, ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३४

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३४

निष्ठा इसी गुण से आती है - - - - यह अविकल निष्ठा तभी सम्भव है जब मनुष्य के इन्द्रिय अपने वश में हो[१]।

नैतिकता के मापदण्डों में जितेन्द्रियता को द्विवेदी जी ने विशेष बल दिया है। जितेन्द्रिय की चर्चा करते हुये उन्होंने उस व्यक्ति को जो असंयमी होने के कारण अपने संकल्पों को व्यर्थ कर देता है, 'महान संकल्प ही महान फल का जनक होता है।'[२] अनामदास का पोथा (उपन्यास) में कहते हैं, 'मनुष्य के आचरण उसके संकल्प से स्थिर होते हैं - - - जैसे उसके संकल्प होंगे वैसा ही वह कर्म करेगा और जैसे उसके कर्म होंगे वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा[३]। वे कहते हैं किसी भी महान संकल्प के लिये दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है[४]।

सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण करते हुये द्विवेदी जी ने नैतिकता के मापदण्ड की खूब चर्चा किया है, 'भक्तिभावना की विशाल पटभूमि पर लोभ, मोह, भय, भ्रान्ति, अहंकार, ममता की समस्याओं को उलझाने का यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। इसमें परमार्थ और व्यवहार का द्वन्द्व नहीं है, कथनी और करनी का व्यवधान नहीं है। व्यक्ति सत्य और समष्टि सत्य की निरर्थक ऊहापोह भी नहीं है। जो भी अहं, भय, लोभ, तृष्णा द्वारा चालित है वह मनुष्य है इसीलिए त्याज्य है।[५]

नैतिकता के मापदण्डों के ह्रास के प्रति द्विवेदी जी विशेष चिन्तित हैं, 'आप चन्टी सत्य और अहिंसा पर धर्म और संस्कृति पर नित्य व्याख्यान

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ६२

२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ३२६

३- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३५५

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ६२

५- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २५५

सुन सकते हैं, समाचार पत्रों में साहस और निष्ठा पर लेख पढ़ सकते हैं,पर 'कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न सा मति:' । हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चरित्रगत कमज़ोरी है । नीचे से ऊपर तक लोभ और भय का बीभत्स दृश्य देखकर हृदय कांप उठता है ।[1]'

पाप और पुण्य :-

उपनिषदों में कहा गया है कि नित्य जीवन का ज्ञान पुण्य है और अज्ञान पाप है । वैदिक ऋचाओं में कहा गया है कि वैदिक क्रियाओं के अनुकूल आचरण करना पुण्य है और उसके विपरीत आचरण पाप है । नैतिकता के सन्दर्भ में पाप की प्रस्तावना मोक्ष के मार्ग में बाधक के रूप में की गयी है । अज्ञान पाप है । इस मिथ्या दृष्टि को व्यक्त करने वाला आचरण एवं उसके कारण आत्मा का पृथकत्व ही पाप है । उपनिषद पाप को न तो माया मानते हैं और न ही यह कोई स्थायी भाव है । इस अर्थ में पाप अयथार्थ है कि इसे पुण्य में अवश्य परिवर्तित होना है यह इसी सीमा तक यथार्थ है कि इसके स्वभाव को बदलने के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता है । सत्य की ही जय होती है अनृत की नहीं ।[2]' पाप एक निषेधात्मक वस्तु है । वह अपने अन्दर परस्पर विरोधी एवं मृत्यु का सिद्धान्त पुण्य, यथार्थ वस्तु और जीवन का तत्व है । द्विवेदी जी ने पाप और पुण्य की दार्शनिक व्याख्या तो किया ही है परन्तु उन्होंने पाप और पुण्य की सरलतम परिभाषा करते हुये कहा है, 'जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है वह पाप कार्य है । पर जिससे किसी का दुख दूर हो उसका इहलोक और परलोक सुधर जाये, रोगी निरोग हो जाय, दुखिया सुखी हो जाय, भूखा अन्न पावे, प्यासा जल पावे, कमजोर लोग आश्वासन पावें - ये सब पुण्य हैं ।[3] 'सर्वे पुंसां परोधर्म: ' में वे कहते

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ६३

२- मुण्डक उपनिषद - ३।१।६

३- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ ३५५

है, 'परोपकार को सबसे बड़ा पुण्य कर्म और परपीड़न को सबसे बड़ा पाप कर्म कहा गया है।'[1] द्विवेदी जी पाप को भी पुण्य की भांति सत्य मानते हैं। पाप के स्वभाव को पुण्य की ओर बदलने की आवश्यकता पर बल देते हैं, 'कामनारूपी नदी पुण्य और पाप के दो किनारों के बीच प्रवाहित होती है। अपने संकल्प या दृढ़ निश्चय के द्वारा हमें इसे पुण्य के अनुकूल करना होता है।'[2] द्विवेदी जी कहते हैं कि 'प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने से त्याग और भोग का सामंजस्य टूट जाता है। अंश के प्रति आसक्ति हमें समग्र के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये प्रेरित करती है और यही पाप है।'[3] इसलिये आसक्ति पर विजय पाना पाप से बचने का प्रमुख साधन है। आसक्ति जितनी ही कम होगी जीवन उतना ही सुखकर होगा, 'हर पाप का प्रायश्चित हो जाना अच्छा होता है।'[4]

द्विवेदी जी के पाप प्रायश्चित सम्बन्धी विचार को स्तोत्रकार डेविड के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है, 'मुझे दुख मिला यह मेरे लिये हितकर है क्योंकि दुख परमेश्वर का दूत बनकर हमारी सम्मुख अपूर्णता का प्रदर्शन करता है। वस्तुतः पाप का प्रायश्चित ही परमेश्वर के दूत की भूमिका निभाता है।

अर्थ और नैतिकता :-

जिस प्रकार आत्मा के लिये मोक्ष और बुद्धि के लिये धर्म की आवश्यकता है उसी प्रकार शरीर के लिये अर्थ की आवश्यकता है। अर्थ धर्म का मूल है। अर्थ सांसारिक जीवन का मूल है। अर्थ के अभाव में जीवन व्यर्थ हो जाता है।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४३

२- वही, खण्ड २, पृष्ठ ३५५

३- वही, खण्ड ८, पृष्ठ १४१

४- वही, खण्ड १, पृष्ठ ४२३

नैतिकता के सन्दर्भ में अर्थ को उचित स्थान दिया गया है। जिसके जीवन में अर्थ की सफलता नहीं वह नैतिकता का पालन कैसे कर सकता है? कौटिल्य के अनुसार- दान एवं अभिलाषाओं की तुष्टि अर्थ पर ही निर्भर करती है। पंच महायज्ञों को सम्पन्न करने के लिये अर्थ के महत्व को स्वीकार किया गया है। बृहस्पति के अनुसार अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नहीं होता? दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक या चाण्डाल के समान है। इस प्रकार अर्थ ही जगत का मूल है[1]। नीतिशतक के अनुसार धनी व्यक्ति अच्छे कुल और उच्च स्थिति का माना जाता है। अत: वह पण्डित, वेदज्ञ, वक्ता, गुणज्ञ, दार्शनिक माना जाता है। अत: धन में सभी गुण समाहित हो जाते हैं[2]। परन्तु मनु ने कहा है कि अगर अर्थ धर्म विरोधी हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिए[3]। इन सभी मान्यताओं का सार यही है कि भारत में अर्थ को धर्म और नैतिकता के अनुरूप होने पर ही वांछनीय माना गया है, अनैतिकता से अर्जित धन को निन्दनीय कहा गया है। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति संसार में रहकर सारे ऐश्वर्य प्राप्त करे, उपभोग करे, धन संचय करे, किन्तु सब धर्मानुकूल हो - - - - - अर्थमूलोहि धर्म कामाविति:[4] अर्थ और नैतिकता के सम्बन्धों की चर्चा करते हुये `अनामदास का पोथा` में मैत्रेयी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या धन-धान्य से अमरता मिल सकती है? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं -- ने साफ़ कहा है कि धन-धान्य से अमरता नहीं मिलेगी तो फिर कैसे मिलेगी? अपनी ओर देखने से; धन-धान्य ही को सब कुछ मान लेने से नहीं[5]। वे पुन: कहते हैं, `धन हमको प्रिय है इसलिये

१- बृहस्पति ६।७।१२

२- नीतिशतक ४२

३- मनुस्मृति ४।१७६

४- अर्थशास्त्र १।७।११

५- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ ३८७

धन ही सब कुछ है ऐसा नहीं समझना चाहिए । जो ऐसा समझेगा वह अन्तरतर के देवता की उपेक्षा करेगा[1]। द्विवेदी जी ने आर्थिक समृद्धि में नैतिकता के मूल्यों पर विशेष बल दिया है और उस व्यक्ति के जीविकोपार्जन को श्रेष्ठ मानते हैं जो सारे समाज को अपना समझता है, सभी को प्रसन्न रखने के लिये कठोर परिश्रम करके धन अर्जित करता है । `उसका अपना कहा जाने लायक कोई नहीं है इसलिये सब उसके हो गये हैं[2] ।`

आर्थिक व्यवस्था में नैतिकता पर बल देते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, `सुख के बाह्य साधन अपने आप में बड़े नहीं हैं, वे यदि मनुष्य के उन महान गुणों का विकास नहीं कर सकते, जिन्हें हम युग-युग से महान मानते आ रहे हैं तो विनाश की ओर ले जायेंगे । मनुष्य में यदि विवेक नहीं जागृत हो सका, उदारता, समता, संवेदनशीलता का विकास नहीं हुआ;: यदि वह आत्मसम्मान , पर सम्मान के महान तत्वों को नहीं अपना सका, यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धा का विकास नहीं हुआ तो वह पशु से अधिक भिन्न नहीं है[3] ।` वे अनियन्त्रित धन लिप्सा को अनैतिक मानते हैं । उतने ही धन की आवश्यकता पर बल देते हैं जिससे समाज में महान आदर्शों के प्रति निष्ठा बनी रहे और न अन्याय किया जाय, न ही उसे सहा जाय[4] । आर्थिक व्यवस्था में नैतिकता पर बल देते हुये द्विवेदी जी चेतावनी भी देते हैं -- `हमारे नागरिक यदि इस आन्तरिक शुचिता को भूल जाते हैं तो हमारी उत्पादन व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, हमें विनाश की ओर ले जायेगी - - - - - जिस शक्ति के पीछे विवेक और औदार्य नहीं होते वह गलत दिशा में ले जाती है[5] ।`

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ ३८७

२- वही , खण्ड २, पृष्ठ ३८७

३- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ४३४

४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ४३५

५- वही ,, ,,

नैतिकता की सामाजिक व्यवस्था :-

व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । यदि व्यक्तित्व के विकास के लिये व्यक्ति को समाज पर आश्रित रहना पड़ता है तो समाज भी व्यक्ति पर अपने अस्तित्व के लिये उतना ही निर्भर करता है । प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिये या किसी अन्य व्यक्ति के लिये कितना त्याग कर सकता है, कितने संयम से काम लेता है, कितना उपकार करता है आदि बातों से सामाजिक नैतिकता, दृढ़ता, उच्चता का ज्ञान होता है । समाज में सत्प्रवृत्तियों का मूल नैतिकता है । यह नैतिकता निश्चित रूप में व्यक्ति की नैतिकता से जुड़ी रहती है । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने कहा है, `अपनी अन्तरात्मा को जिस प्रकार स्वयं की प्रतिकूल परिस्थितियों में कष्ट की और अनुकूल परिस्थितियों में सुख की अनुभूति होती है । वैसा ही सबके लिये सोचना चाहिए[1] । वस्तुत: पर दुख के प्रति कातरता और सामाजिक सुख के लिये व्यग्रता व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक नैतिकता की स्थापना करती है ।

प्राचीन भारत में वैदिक ऋषियों के सामने देवताओं का आदर्श था । इन्द्र आदि देवताओं के परोपकार्य आर्यों के लिये अनुकरणीय थे । अन्य अनेक देवताओं के आदर्श पर कहा गया `पुमान पुमांसम् परिपातु विश्वत:` अर्थात् सब प्रकार के पुरुष अन्य पुरुषों का पालन करें । ऋग्वेद में कहा गया है, वह मित्र नहीं है जो मित्र के लिये त्याग नहीं करता । अनुदार का अन्न पाना व्यर्थ है जो अकेले खाता है वह पापमय है[2] । यही सामाजिक नैतिकता की नींव है । सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में असंमाव, मद लोभ से विरक्त रहने की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया गया है । इसी प्रवृत्ति का बोध द्विवेदी जी के इन शब्दों में स्पष्ट मिलता है । `जो

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४२

२- ऋग्वेद १०।११७।६

जिस अहं भाव, भय, लोभ से मुक्त होता है वह अनायास सामाजिक मंगल की ओर प्रवृत्त होता है । अहंकार वस्तुत: अपने आपको सबसे अलग समझने के कारण ही होता है[१] । पुनश्च उन्होंने अहंकार को प्रमुख सामाजिक अवगुण स्वीकार करते हुये कहा है, 'अहंकार से यहां प्रत्येक जाति जर्जर है प्रत्येक सम्प्रदाय अन्तर्विदीर्ण है । छोटेपन में अहंकार का दर्प इतना प्रचण्ड होता है कि वह अपने को ही खण्डित करता रहता है[२] ।

द्विवेदी जी के चिन्तन में मनुष्य और समाज के नैतिक आदर्शों में अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है । उस नैतिकता को श्रेष्ठ मानते हैं जिससे समाज का कल्याण हो, बाणभट्ट की आत्मकथा में वे एक पात्र कुमार के मुख से कहलाते हैं, 'जो समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिये ही तैयार की गयी है, उसे मानकर अगर कोई कल्याण कार्य करना चाहे, तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा । सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है - - -- --- - ' सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है ।[३] उन्होंने समाज में सन्तुलन बनाये रखने के लिये अपने मानवतावादी और आदर्श प्रारूपों को विशुद्ध रूप में व्यक्त किया है । वे सामाजिक नैतिकता 'हित' की भावना को सर्वोपरि मानते हैं । द्विवेदी जी ने विश्वास अभिव्यक्त किया है, 'आहार निद्रा पशु सामान्य मनोरोगों को बार-बार उत्तेजित करना किसी बड़े कृतित्व का काम नहीं है । कृतित्व का प्रमुख उद्देश्य है व्यक्ति और समाज में संयम त्याग और प्रेम की भावना को जागृत करना ।

हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चारित्रिक कमजोरी है[४] ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २४५
२- वही , खण्ड १, पृष्ठ ५१४
३- वही , खण्ड १, पृष्ठ ६७
४- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ६३

इस तथ्य के प्रति चेतावनी देते हुये द्विवेदी जी ने सामाजिक नैतिकता की स्थापना पर बल दिया है और इसको एक साधना मानते हुये स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'हमारी साधना केवल व्यक्तिगत उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ, मोह की ओर खींचने वाली शक्तियां क्षीण बल हो जायं'। सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी जी की यह कामना निश्चय ही स्तुत्य है।

नैतिकता और राजनीति :-

राजनीति शास्त्र में नैतिकता कई अर्थों में प्रयुक्त होती है। प्राचीन भारतीय नीति ग्रन्थों के अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि सामाजिक व्यवहार पद्धतियों को बताने वाले शास्त्र का नाम नीतिशास्त्र था। उस युग में नीतिशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक नागरिक के लिये आवश्यक था। इसका कारण यह था कि बिना नीति के कोई भी सामाजिक व्यक्ति अपना व्यवहार दूसरों के साथ नहीं चला सकता जब तक उसे नीति का ज्ञान नहीं है और बाद में यह नैतिकता का मापदंड बन गयी। भारत में प्राचीनकाल से यह धारणा रही है कि राजनीति के क्षेत्र में बिना सिद्धान्त, नियम धारणा निश्चय विचार तथा नीति के कोई कार्य नहीं किया जा सकता। वस्तुत: ये ही राजनैतिक नैतिकता के आदर्श बने।

द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों एवं उपन्यासों में राष्ट्र और देश के संचालन में प्रसंगवश राजा और प्रजा के सम्बन्धों की चर्चा की है। इससे हमें उनकी राजनैतिक नैतिकता के विषय में संकेत मिलते हैं। राजा की निरंकुशता पर अंकुश का वर्णन करते हुये अपने (उपन्यास) पुनर्नवा में लिखा है, 'यदि सम्राट ने प्राड्-विवाक, मंत्री, पुरोहित धर्म शास्त्रियों से परामर्श किये बिना कोई निर्णय लिया है तो उसका कोई मूल्य नहीं है वह निरर्थक है'[१]। राजा चूंकि प्राय: प्रमुख न्यायाधीश भी होता था, उसकी नैतिकता

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ १६४

की चर्चा करते हुये उन्होंने लिखा है - 'राजा या न्यायाधीश या मन्त्री किसी को भी अकेले में न तो विवाद सुनना चाहिए और न तो निर्णय लेना चाहिए। निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए - राग, लोभ, भय, द्वेष और एकान्त में वादियों की बातें सुनना। इससे पक्षपात की आशंका बनी रहती है[१]।

साहित्य से नैतिकता का सम्बन्ध :-

संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित हो तो साहित्य कभी भी नैतिकता से परिपूर्ण नहीं होगा। यदि साहित्य का मूल नैतिकता पर आधारित हो तो साहित्य अपने आदिकाल से नैतिकता से ओत-प्रोत रहा है। अपने सम्पूर्ण रूप में भारतीय साहित्य में वैदिकता की मौलिकता तो है ही साथ ही इसमें नैतिकता की प्रतिष्ठापना की गयी है। इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने साहित्यकार होते हुए भारतीय साहित्य में नैतिकता को बड़ी कुशलता से उजागर किया है। यदि कहा जाय कि द्विवेदी जी ने कालिदास, बाण, कबीर, रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विशिष्ट व्यक्तियों के प्रेरणात्मक सार रूप में साहित्य में नैतिकता को उजागर किया है तो अन्यथा न होगा। उन्होंने साहित्य के व्यापक नैतिक आदर्शों और विचारों को समन्वित किया है। द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों एवं निबन्धों आदि में नैतिकता के मूलभूत प्रश्नों को विशुद्ध सांस्कृतिक पीठिका देकर साहित्य के साथ प्रस्तुत किया है। वे यह मानकर चलते हैं 'क्षुद्र अहमिकाओं और अर्थहीन संकीर्णताओं की क्षुद्रता सिद्ध करने के लिये तर्क और शास्त्रार्थ का मार्ग कदाचित ठीक नहीं है। सही उपाय है बड़े सत्य को प्रत्यक्ष कर देना[२]।' साहित्य में नैतिकता की स्थापना करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं -'जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति और हीनता पराश्रयापेक्षिता से न बचा सके जो

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड २, पृष्ठ १६३

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ २४

उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है[१]। साहित्य में नैतिकता की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी यह स्पष्ट करते हैं कि साहित्य का आधार घृणा और द्वेष नहीं हो सकता। प्रेम, त्याग, ज्ञान साहित्य का आधार हो सकते हैं। तभी साहित्य संसार को नया प्रकाश दे सकता है। उनके साहित्य का परम लक्ष्य सर्वभूत का आत्यन्तिक कल्याण है। द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य एक है भेद विभेद ऊपरी बातें हैं। मनुष्य को इस महान एकता को पाने के लिये समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध, अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्क-पद्धति का निरास और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन हैं। इन्हीं से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है, जिसका प्रकाश साहित्य है। यदि यह कहा जाय कि द्विवेदी जी ने साहित्य में नैतिकता को सर्वोपरि स्थान दिया है तो अत्युक्ति न होगी। ऐसा करने में वस्तुत: उन्होंने विशुद्ध भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया है।

नैतिकता के उपर्युक्त विचार-विमर्श के सन्दर्भ में विस्तार से अधिक न कहकर द्विवेदी जी के ही शब्दों में 'छोटा सा तृणांकुर धरती के गुरुत्वाकर्षण को अभिभूत करके सिर ऊपर उठाकर खड़ा हो जाता है। नैतिकता चेतन का धर्म है। अनैतिकता उसका अभाव है। ज्यों-ज्यों चैतन्य का परिष्कार होगा त्यों-त्यों नैतिकता का भी परिष्कार होगा। शुद्ध नैतिकता कल्पना मात्र है। वे जड़ तत्वों से मिश्रित रहेंगी ही पर उनका मुख चैतन्य की ओर होना चाहिए - - - - मनुष्य के चैतन्य में परिष्करण के साथ ही साथ विधि निषेधमूलक नीति परिष्कृत होती जायेगी[२]।'

-0-

१- ह० प्र० ग्रन्था० खण्ड १० , पृष्ठ

२- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३५४

षष्ठ अध्याय

साहित्य, शिक्षा एवं कला

साहित्य

साहित्य की परिभाषा :-

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य की अनेक परिभाषाएं दी हैं । साधारणतया `साहित्य` शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है । प्रथम के अन्तर्गत मानव जाति के संचित ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित समस्त ग्रन्थ समूह को साहित्य की संज्ञा प्रदान की जाती है । दूसरे अर्थ के अनुसार रस, अलंकार आदि से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थ ही `साहित्य` की श्रेणी में रखे जाते हैं । तीसरे के अन्तर्गत `साहित्य` शब्द का प्रयोग शब्दार्थ और शब्द गौरव से युक्त ललित साहित्य के लिये किया जाता है ।

`साहित्य` शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है --`अगर समूचे ग्रन्थ समूह को व्यापक अर्थ में साहित्य मान लें तो स्पष्ट ही उसमें तीन श्रेणी की पुस्तकें मिलेंगी ।`[1] इन श्रेणियों को वे `सूचनात्मक साहित्य` विवेचनात्मक साहित्य तथा रचनात्मक साहित्य में विभक्त करते हैं । उनके अनुसार - `साहित्य` शब्द का व्यवहार नया नहीं है परन्तु पुराने जमाने से लोग इसका व्यवहार करते आ रहे हैं - - - - - यह शब्द संस्कृत के `सहित` शब्द से बना है जिसका अर्थ है `साथ-साथ`। `साहित्य` शब्द का अर्थ इसीलिये `साथ साथ रहने का भाव` हुआ ।`[2] उन्होंने `साहित्य` के इस धातुगत अर्थ को जिस भांति स्पष्ट किया है । इसके संबंध में कोई मतभेद हो ही नहीं सकता । `सहित` में अकारान्त आदि के साथ `य` प्रत्यय के योग से `साहित्य` शब्द बना है ।

आचार्य भामह ने अपने   में कहा है --`सहितस्य भाव:

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ १६३

२- वही   , खण्ड ७, पृष्ठ १६४

साहित्यम्` अर्थात् जिसमें सहित का मिलने का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। `सहित` का भाव स्पष्ट करते हुये भामह ने लिखा है --`शब्दार्थौ सहितौकाव्यम्` अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य हो। इसी को राजशेखर ( दसवीं शताब्दी ) ने काव्यमीमांसा में इस प्रकार कहा है -- `शब्दार्थयोर्यथवत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या`। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में `साहित्यमनयो: शोभाशालिता प्रति काव्यसौ`। अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थिति: (शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त, आपस में स्पर्द्धा सहित मनोहर रूप में श्लाघनीय स्थिति को साहित्य कहते हैं) कहा है। साहित्य के माध्यम द्वारा केवल भाव का भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता, वरन् मानव का मानव के साथ मिलन होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के सार्थक एवं सर्वोत्तम विचारों को उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है[१]। इस विषय में किंचित् भी सन्देह नहीं है कि साहित्य का उन सभी विषयों और वस्तुओं से सम्बन्ध है, जिन्हें मनुष्य देख सकता है, समझ सकता है, अनुभव कर सकता है। इसलिये वह मानव सभ्यता और संस्कृति से पग-पग पर जुड़ा हुआ है।

यह वाक्य पर्याप्त प्रसिद्ध है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज के रूप, रंग, वृद्धि, ह्रास, उत्थान, पतन, समृद्धि तथा दुरावस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन साहित्य ही होता है। संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार का साधन भी साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित हो तो साहित्य कभी भी आध्यात्मिक नहीं होगा। यदि संस्कृति का मूल आध्यात्मिकता पर आधारित हो तो साहित्य का प्रचुर अंश आध्यात्मिकता से अनुप्राणित होगा। किसी भी संस्कृति के अर्थ को समझने के लिये साहित्य विशेष रूप से सहायक होता है। द्विवेदी जी ने

१- साहित्य और भाषा की उत्पत्ति : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ २१

संस्कृति और साहित्य को एक दूसरे से जोड़ते हुये स्पष्ट किया है- 'साहित्य मानव जीवन से उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है - - - - । साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है, जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है । - - - - जीवन की जहां तक गति है, वहां तक साहित्य का क्षेत्र है । जीवन से दूर हटा हुआ साहित्य अपना महत्व खो देता है - - - - - - साहित्य जीवन से सीधे उत्पन्न होता है[1] । - - - - 'साहित्य जीवन से सीधे उत्पन्न होता है' इस वाक्य का अर्थ यह है कि साहित्य जीवन में ही रहता है और उसके लिखे पढ़े जाने का कारण भी जीवन में ही खोजना चाहिए । 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्य पद का अधिकारी बने रहने के लिये साहित्य ही एकमात्र आधार है[2] ।

संस्कृति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी द्वारा की गयी साहित्य की परिभाषा संस्कृति के सम्पूर्ण अंगों को अपने में समेटती हुई मनुष्य पर केन्द्रित हो जाती है । वह साहित्य को संस्कृति की साधना के रूप में प्रतिष्ठापित करती है । वह (साहित्य) साधना का विषय है हमारा साहित्य उसी को केन्द्र करके गठित हुआ है उसमें आशावाद और निराशावाद के उतार-[3] चढ़ाव नहीं मिलते, भारतीय साहित्य शाश्वत सत्य में प्रतिष्ठित है । वस्तुतः संस्कृति का केन्द्र बिन्दु मनुष्य और उसके क्रिया-कलाप हैं । इस तथ्य को द्विवेदी जी ने पर्याप्त रूप में स्पष्ट किया है । साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होने लगा है - - - - - साहित्य का प्रयोजन मनुष्य के हृदय से है जो मनुष्य के प्रति और सहानुभूतियुक्त बनाना चाहती है । जो उसे दूसरे के दुख से दुखी और सुख से सुखी बनाना चाहती है । कुन्तक नामक आचार्य ने एक हजार वर्ष पहले कहा था कि केवल शब्द में ही कवित्व

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ १६५

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ २३-२४

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६८

नहीं होता और केवल अर्थ में भी कवित्व नहीं होता । वस्तुत: शब्द और अर्थ के साहित्य में अर्थात् साथ-साथ या सहित होकर रहने के कारण जो उसका सामंजस्य है उसमें कवित्व होता है[१]।

साहित्य के सांस्कृतिक तत्वों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने लिखा है, 'जो साहित्य हमें स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनाये उसे हम साहित्य नहीं कह सकते - - - - - - जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाये और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये वही उपादेय है वही साहित्य है । - - - - साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है[२]।

यूं तो संस्कृति और साहित्य के गहन सम्बन्धों को व्यापक रूप में चर्चा की जा सकती है परन्तु यहां पर इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी के विचारों में सीमित रखकर साहित्य की परिभाषा संस्कृति के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत करने की चेष्टा कर रहे हैं । द्विवेदी जी कहते हैं - 'भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है । भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वालों का जीवन स्तर ऊंचा उठता है । उनमें कार्यकारण परम्परा को सही-सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है । राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है[३]। भारतीय लोकतन्त्र और संस्कृति नामक निबन्ध में संस्कृति के सन्दर्भ में साहित्य की भूमिका की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी ने भारत की विभिन्नता और विविधताओं में जिस मौलिक एकता की बात करते हैं, वह वस्तुत: भारत की महान साहित्यिक निधि का ही परिणाम है । उन्होंने भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य को भारत की महान उपलब्धि

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ४२
२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६१
३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ २२६

माना है । हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा और बानकारी तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन की चरितार्थता के लिये संस्कृत का साहित्य अत्यन्त आवश्यक है । वैसे तो संस्कृति के विकास की कथा मनुष्य के छोटे मोटे प्रयोजनों की पूर्ति से प्रारम्भ हुई आहार, आवास आदि परन्तु संस्कृति के वास्तविक विकास की गति तब प्रारम्भ हुई, जब मनुष्य ने इन छोटे-मोटे प्रयोजनों में सुन्दरता की प्रतिष्ठापना करना प्रारम्भ कर दिया । द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य का पदार्पण यहीं से हुआ । साहित्य मनुष्य की सौन्दर्य साधना है वह मनुष्य को सुन्दर बनाता है । वस्तु को इस ढंग से सजाना कि उसकी कुरूपता और भद्दापन मिट जाय । प्रत्येक उपादान उचित मात्रा में उचित स्थान पर बैठा दिया जाय, यही सबसे बड़ी कला है ।

साहित्य का लक्ष्य :-

आचार्य द्विवेदी जी के अधिकांश साहित्यिक लेखन में संस्कृति ही प्रमुख रूप में मुखर है । वे साहित्य को संस्कृति की जीवन्त अभिव्यक्ति मानते हैं और अपने समस्त लेखन में संस्कृति के प्रश्न को ही प्रमुख रूप में विचार करते हैं । आचार्य द्विवेदी की संस्कृति सम्बन्धी अवधारणायें इस तथ्य की पुष्ट करती हैं कि वे हिन्दू संस्कृति, आर्य संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति को एक दूसरे से जोड़ते हुये मानव संस्कृति की व्यापक प्रतिष्ठापना करते हैं । साहित्य का लक्ष्य क्या होना चाहिए ? इस पर विचार करते हुये द्विवेदी जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, जो साहित्य हमारी क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाये - - - - - - जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियों को बढ़ी करके दिखाये, हमें स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनाये उसे हम साहित्य नहीं कह सकते, चाहे कितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो[1] । उनकी दृष्टि में मनुष्यता ही सर्वोपरि है । उनकी कल्पना का मनुष्य मनुष्य होने के नाते ही महान है । द्विवेदी

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २०६

जी ने अपने साहित्यिक निबन्धों में अनेक स्थानों में साहित्य के लक्ष्य का निर्धारण करते हुए कहते हैं, इसका लक्ष्य मनुष्य समाज को रोग, शोक, दारिद्रय अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करना है। वे कहते हैं, 'साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है - - - - - किसी जमाने में वाग्विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा। किन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो।[1] वे उस साहित्य को अपने मूल धर्म से विच्युत मानते हैं जो मनुष्य को पशुता की ओर ले जाता है, मनुष्य की ऐसी भी आशा आकांक्षायें हैं जो उसे पशुता की ओर ले जाती हैं। ऐसे भी सुख दु:ख हैं जो उसकी जड़ता के परिचायक हैं। इन सबको सिर माथे धारण करने से साहित्य अपने मूलधर्म से विच्युत होता है।[2]

काव्य के लक्ष्य का निर्धारण करते हुए द्विवेदी जी ने इसी बात पर बल दिया है, 'मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है।' मनुष्य को उसकी स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाना, उसकी इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्गुण में प्रतिष्ठित करना, पर दुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत के भीतर चिरन्तन्य एक की अनुभूति के द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का काम है।[3] मानव के प्रति उदार प्रेम द्विवेदी जी के चिन्तन की आधारभूत कड़ी है। वे इस तथ्य से भी अपरिचित नहीं हैं कि आधुनिक समय में भौतिकवादी दृष्टिकोण से साहित्य के के लक्ष्य को बहुत अधिक सीमा तक पराभूत किया है। वैज्ञानिक सफलताओं के कारण दुनियां आज बहुत सिमट गयी है। कहीं वह संकीर्ण स्वार्थों का कलह

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ४६
२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ १६०
३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २६८

भी बनती जा रही है। एक जाति को दूसरी घृणा करने लगी है। नाना भांति के गलत प्रचारों ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति शंकालु बना दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि दलगत स्वार्थ के प्रेत ने सबको मनुष्यता को दबोच लिया है, आवश्यकता है साहित्य हमारे हृदय को उदार और संवेदनशील बनाये - - - - - संयम, त्याग और तपस्या मनुष्यता की रक्षा के लिये ही आवश्यक है। पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाना ही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी का सर्वोत्तम प्रकाश साहित्य में होता है।[1] वैज्ञानिक खोजों तथा भौतिकता के अतिवाद ने साहित्य के क्षेत्र में मानवता के लिये जो संकट पैदा किया है उसके प्रति सजग रहते हुये द्विवेदी जी ने ऐसे साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया है, जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिये बलि होने की उमंग पैदा करें, अन्याय से जूझने का उन्माद पैदा करें और अपने अधिकारों के लिये मिट जाने के लिये अकुंठ साहस का संचार करें।[2]

द्विवेदी जी मानवतावाद को जब साहित्य का आधार मानते हैं तो वे सांस्कृतिक आवेश से अभिभूत हो उठते हैं। उदाहरण के लिये -- 'हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है - सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी विगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश बैठ रहा है, व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। जब बड़े आदर्श के मनुष्य का योग होता है तब साहित्य नये काव्य रूपों की उद्भावना करता है। नये बाह्य आकारों को प्रकट करता[3] है और जन-जीवन में नवीन आशा और विश्वास का संचार करता है।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ४२-४३

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ११८

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ८१

आचार्य द्विवेदी जी साहित्य और भाषा के सहज होने के साथ ही साथ साहित्यकार के सहज होने पर भी विशेष बल देते हैं । उनका विश्वास है, `साहित्य का मुख्य उद्देश्य सहज भाषा में ऊंचे विचारों और श्रेष्ठ जीवन मूल्यों को अनायास ग्राह्य बनाना है[१] ।` वे सहजता को ही मौलिकता का प्रतिमान मानते हैं, मेरी दृष्टि में साहित्य की मौलिकता का प्रतिमान यही समाज की मंगल दृष्टि से अनुप्राणित परम्परा प्राप्त शास्त्र दृष्टि से सुसंस्कृत और लोक चित्त में सहज ही सुचिन्तित तत्वों को सरस रूप में प्रतिफलित करने में समर्थ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है । व्यक्तित्व जितना उज्ज्वल और शक्तिशाली होगा साहित्य की मौलिकता उतनी ही उज्ज्वल और होगी - - - - - साहित्य में सहज होना भी मौलिकता का श्रेष्ठ प्रतिमान है[२] । यद्यपि द्विवेदी जी की दृष्टि में मनुष्य के रूप में मनुष्य ही सर्वोपरि है । यही स्थापित करना साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है तथापि वे इस सन्दर्भ में सामाजिक मूल्यों की अवहेलना को स्वीकार नहीं करते । शब्द और अर्थ के साहित्य को लेकर कारबार करने वाली विधा निश्चित रूप से मनुष्य की सामाजिक रूप की व्याख्या करती है । इसलिये साहित्य के अध्ययन के लिये केवल पोथी में लिखे हुए लक्षण ही नहीं बल्कि जकदर मानव समाज का भी परिचय आवश्यक है[३] । . . . साहित्य का इतिहास ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है, वह काल स्रोत में बहे आते हुये जीवन्त समाज की विकास कथा है । मैं इतिहास को जीवन का अनिरुद्ध स्रोत मानता हूं और दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूं यही मानना सही मानना है । प्रति क्षण परिस्थितियां बदल रही हैं, क्रिया और प्रतिक्रिया का रूप बदलता जा रहा है । इसी नवीनता के अनिरुद्ध प्रवाह का नाम इतिहास है[४] ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ८५

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ८५

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ १०१

४- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ५६

यह एक रोचक तथ्य है कि द्विवेदी जी के समस्त लेखन में साहित्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में रूढ़िवादिता और प्रगतिशीलता देखने को मिलती है। किन्तु साथ ही इन दोनों का अद्भुत सामंजस्य भी परिलक्षित होता है। उन्होंने विशेष बल देते हुये कहा है, 'जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें अपने देश के संचित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज नहीं तो कल उन्हें उस विशाल ज्ञान-राशि के संरक्षण और आलोचन का भार अपने कन्धे पर लेना होगा।'[1] इस विषय में द्विवेदी जी अपनी आशंका और आस्था अभिव्यक्त करते हैं। 'मैं समझता हूं कि नये साहित्यकार विशेष सामाजिक प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति आस्थावान हैं, वे केवल उसे अमल करने के लिये जिम्मेदार व्यक्तियों और उनके तौर तरीकों के प्रति आस्थावान नहीं हैं। विज्ञान के साधनों के सदुपयोग की जिस सन्दर्भ की आवश्यकता है वैसा प्राप्त नहीं हो रहा है। सारा देश गरीबी रोग और अशिक्षा कुसंस्कार से मुक्त हो, इसके लिये जैसा प्रयत्न होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। इसलिये हमारे नये साहित्य में बड़े जबर्दस्त व्यंग्य और भर्त्सना का आधिक्य है।'[2]

मार्ग सूचक पट्टी मन्तव्य नहीं होती। वह लक्ष्य की ओर संकेत करती है और लक्ष्य के प्रति सचेष्ट होने की चेतावनी देती है। साहित्य के लक्ष्य के प्रति सचेष्ट रहते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, 'साहित्यिक सम्प्रेषणीयता तभी जाकर पूर्ण रूप से सफल होगी जब हम अपने लक्ष्य तथा उसके बाधक तत्वों की ठीक-ठीक जानकारी रखकर सर्वसाधारण के चित्त में वैज्ञानिक, सामाजिक, मानवीय आदर्श को सम्प्रेषित करने में समर्थ हों।'[3] ××× मनुष्य को पूर्णरूप से सबल बनाने के लिये ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है जो

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २६०

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६४-६६

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६६

उसको कर्तव्य पथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक संघर्ष में विजयी होने की उमंग संचारित करे[१]। द्विवेदी जी इस प्रकार के साहित्य को लक्ष्य से च्युत मानते हैं जो हृदय की अनुभूतियों को व्यापक और संवेदनाओं को तीक्ष्ण नहीं बनाता[२]।

लक्ष्य-प्राप्ति के साधन रूप में वे नयी परिस्थितियों के अनुसार पुराने अनुभवों के प्रयोग को वे जीवन और साहित्य में सर्वत्र हितकर मानते हैं[३]।

साहित्यकार का उत्तरदायित्व :-

साहित्य की परिभाषा और साहित्य के लक्ष्य पर विचार संक्षिप्त रूप से करने के उपरान्त स्वाभाविक रूप से साहित्यकार और उसके उत्तरदायित्व के प्रति विचार आवश्यक है। साहित्य का रचयिता साहित्यकार कहलाता है। किन्तु इस साधारण सी बात में भी कई गूढ़ तत्व समाहित हैं। साहित्य के अध्ययन अथवा विवेचना करते समय यह बात भी विशेष विचारणीय होती है कि साहित्यकार कौन है। द्विवेदी जी ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'किसी पुस्तक की विवेचना करते समय चार बातों का विचार परम आवश्यक है --(१) कौन कह रहा है (लेखक), (२) क्या कह रहा है (वक्तव्य वस्तु), (३) कैसे कह रहा है (कारीगरी), (४) किससे कह रहा है (लक्ष्यीभूत श्रोता या पाठक)[३]।' साहित्यकार वस्तुत: अपने कतिपय प्रयोजनों से बंधा हुआ होता है। उसकी दुनिया प्रयोजनों की दुनिया है और प्रयोजनों के अन्तर्गत वह अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है और प्रयोजन की प्राप्ति के लिये जब वह अभिव्यक्त होता है तो साहित्य की रचना होती है। इस तथ्य को द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुये लिखा है, 'जिस व्यक्ति के मन में मानवता के स्वाभाविक

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ३, पृष्ठ ३६६
२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २०७
३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ १४५

धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल हो गया होता है, जिसमें कहने योग्य बात कहलाने की बेचैनी स पैदा होती है वह नया छन्द बना लेता है, नये अलंकारों की योजना कर लेता है, नयी शैली बना लेता है, परन्तु जिसे इन बातों का तो ज्ञान हो लेकिन मूल बात का स्पर्श ही नहीं, वह साहित्यकार नहीं हो सकता ।[१]

सारा साहित्य न कह सकने की बेचैनी और आनन्द के उच्छल होने से ही उत्पन्न नहीं होता, उदाहरणार्थ - विज्ञान, गणित आदि परन्तु मन को छू लेने वाला साहित्य निश्चय ही साहित्यकार की बेचैनी से उत्पन्न होता है । कल्पना और विचार आदिकाल से मानव के संगी रहे हैं परन्तु सभी मानव तो साहित्यकार नहीं हुये । कल्पना और विचार को जो शब्दों में कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त कर पाये वस्तुत: साहित्यकार वही है । यह विचार विनिमय पर्याप्त विस्तृत हो सकता है परन्तु यहां हमें अपने सन्दर्भ में ही सीमित रहना उचित होगा । साहित्यकार के उत्तरदायित्व का प्रश्न निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृति और सभ्यता का पर्याप्त बोध प्राचीन भारत के सन्दर्भ में हमें साहित्य से ही हो पाया है ।

साहित्यकार के उत्तरदायित्व की चर्चा करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, "सच्चा साहित्यकार वही है जो महान साहित्य की रचना करे - - - - - - - यह सत्य है कि साहित्य नीतिशास्त्र की सूक्तियों का संग्रह नहीं होता, पर यह भी सत्य है कि मनोविज्ञान और प्राणिविज्ञान की प्रयोगशालाओं से उधार लिये हुये प्राणियों का मेला भी नहीं होता । जो साहित्य अविस्मरणीय दृढ़ चेता चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकता, जो मानव चित्त को मथित और चालित करने वाली परिस्थितियों की उद्भावना नहीं कर सकता और मनुष्य के दुख-सुख को पाठक के सामने

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २६५

इच्छामूलक नहीं बना देता, वह बड़ी सृष्टि नहीं कर सकता ।[1] साहित्यकार के उत्तरदायित्व का मूल द्विवेदी जी के उपरोक्त कथन में अन्तर्निहित है । वे कहते हैं कि छोटा मन लेकर बड़ा काम नहीं होता । साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है । साहित्यकार का उत्तरदायित्व है कि वे ऐसे ही साहित्य की रचना करें । `साहित्य की साधना' तब तक बन्ध्य रहेगी जब तक हम पाठकों में ऐसी अदमनीय आकांक्षा जागृत न कर दें जो सारे मानव समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मानयोग्य देखने के लिये सदा व्याकुल रखे ।[2]

साहित्य को साहित्यकार से पृथक नहीं किया जा सकता है । साहित्यकार जैसा होगा साहित्य भी वैसा ही होगा । `साहित्य' नामक वस्तु साहित्यकार से एकदम अलग अन्य निरपेक्ष पिण्ड तुल्य पदार्थ नहीं है । जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नहीं देख सका है वह बड़ा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता - - - - - मानव सहानुभूति से परिपूर्ण हृदय और अनासक्ति अन्य मस्ती साहित्यकार को बड़ी रचना करने की शक्ति देती है ।[3] वस्तुत: साहित्यकार का लक्ष्य द्विवेदी जी की दृष्टि में है । मनुष्य जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का संकल्प मनुष्य के गुणों को अनुभव करा सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे युग वेता आदर्श चरित्रों की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता का मार्ग दिखाते रहें । जो साहित्यकार ऐसा नहीं कर पा रहा है उसमें कहीं न कहीं कोई त्रुटि है ।[4] समाज के दर्पण साहित्य का रचयिता एक विशेष दृष्टि से युक्त होता है । उसे समाज की जटिलताओं का पूरा-पूरा ज्ञान होना आवश्यक है । इस बात को द्विवेदी जी स्वीकार

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७ , पृष्ठ १७७

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ १७८

करते हुये लिखते हैं - "उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसे समझता है और वहीं से अपनी विशेष दृष्टि पाता है, यदि कोई लेखक केवल परम्परागत रूढ़ियों को सत् और असत् की निर्धारित सीमाओं को बिना विचारे ही उपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नहीं दे सकता।"[१]

साहित्य का अन्य विषयों से सम्बन्ध :

साहित्य का क्षेत्र विशाल तथा बहुमुखी है और वह अपने समस्त वैभव और विभूति के प्रदर्शन के लिये अनेक विषयों में विभक्त है। इसमें कला, धर्म, दर्शन, जैसे विशुद्ध वैचारिक और चिन्तनशील विषय और विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि विशुद्ध भौतिक सत्यान्वेषी विषय आते हैं। द्विवेदी जी कहते हैं - "साहित्य के क्षेत्र में अनेक दृष्टिकोण हैं। कोई जीवन के मानसिक पक्ष पर अधिक बल देता है, कोई आर्थिक पक्ष पर, कोई सामाजिक पक्ष पर, कोई वैयक्तिक पक्ष पर, कोई आध्यात्मिक पक्ष पर - - - - - - ये सब प्रयत्न सत्य को ढूंढने के प्रयत्न हैं।"[२]

साहित्य तथा संस्कृति :

भारतीय साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। प्राचीन काव्य यदि संस्कृति की अनुपम गाथा सुनाते हैं तो प्राचीन नाटकों में संस्कृति अपनी कमनीय क्रीड़ा दिखाती है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से ओत-प्रोत, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्धित भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक रूप प्राचीन साहित्य में अपनी सुन्दर झांकी दिखलाता हुआ पाठक के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं उतने ही वे

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २३२
२- वही ,खण्ड १०, पृष्ठ १५४

भारतीय संस्कृति के विशुद्ध चित्रण के कारण भी आदरणीय हैं । यह बात तो हुई पुरातन साहित्य की ।

आधुनिक साहित्यकारों में द्विवेदी जी का साहित्य पग-पग पर भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित है । उनके उपन्यासों, निबन्धों एवं समस्त वाङ्मय में संस्कृति और साहित्य का मनोरम एवं घनिष्ठ सम्बन्ध देखने को मिलता है । उनके साहित्य का अनुशीलन हमें संस्कृति के विशुद्ध वातावरण में तो विचरण कराता ही है, साथ ही समाज के सुख-दुख की भावना को हमारे हृदय में उद्वेलित करता है । कहीं पर तो द्विवेदी जी दीन दुखियों की कातरता पर आंसू बहाते हैं तो कहीं वे सुखी और समृद्ध जीवों के सुख पर रीझते से दिखते हैं । लगता है जैसे वे भारतीय संस्कृति के प्रासाद में एक जीवित प्राणी की भांति निवास कर रहे हों । प्रासाद के हर्ष और विषाद का आह्लाद और उन्माद का अनुभव करते हैं । भारतीय संस्कृति का निखरा हुआ रूप द्विवेदी जी के साहित्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । बृहत्तर भारत में जिस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रसार तलवार के सहारे नहीं वरन् लेखनी के सहारे हुआ था । वस्तुत: आज उस संस्कृति के महान रूप को द्विवेदी जी ने अपने साहित्य के माध्यम से उभारा किया है ।उन्हीं के शब्दों में 'सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं । हमारे धर्म के विश्वास को सभी जातियों ने किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया'[1] . . . 'उस युग के साहित्य में भोग के साथ ही साथ त्याग का विलासिता के साथ शौर्य का सौन्दर्य प्रेम के साथ आत्मदान का आदर्श सर्वत्र सुप्रतिष्ठित था । सब समय आदर्श के अनुकूल आचरण नहीं हुआ करता था । परन्तु फिर भी आदर्श का का महत्व भुलाया नहीं जा सकता'[2]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २६३

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २६५

साहित्य और धर्म :

मारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है । सर्वशक्तिमान ईश्वर की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास तथा आस्तिकता ही भारतीय धर्म का आधार पीठ है । इन भावों ने भारतीय संस्कृति को आदिकाल से लेकर निरन्तर प्रभावित किया है । इस तथ्य की सर्वपूर्ण चर्चा द्विवेदी जी के साहित्य में मिलती है । इसका विशद चर्चा करने की अपेक्षा उन्हीं के शब्दों में - - - - - - केवल आहार, निद्रा आदि प्राकृतिक और आदिम क्षुधाओं की पूर्ति के प्रयत्न तो प्राणिमात्र करते हैं, मनुष्य उनसे विशिष्ट इसलिये है कि उसमें उच्चतर जीवन मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न है - - - - जो समाज धर्म जिज्ञासा से च्युत हो जाता है वह बर्बर होकर अन्त में विनष्ट हो जाता है । प्राचीन इतिहास और नवीन विचारधारा के निरन्तर अनुशीलन या शोध के द्वारा ही मनुष्य उन मूल्यों के प्रति जागरूक और सचेत रहता है[१] । यह जागरूकता और सजगता साहित्य द्वारा ही सम्भव हो पाती है ।

साहित्य और दर्शन :

दर्शन के अन्तर्गत आने वाले विचार और चिन्तन का मुख्य वाहन साहित्य ही है । द्विवेदी जी कहते हैं, `दर्शन और धर्मशास्त्र जीवन के विभिन्न विचारों और आचारों के मूल्य के निर्णय और पालन के निर्दिष्टा शास्त्र हैं[२] । भारतीय दर्शन नैराश्य के भीतर से आशा का विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुख के भीतर से सुख का उद्गम अवश्यम्भावी मानता है । इस दार्शनिक विचारधारा को द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में बखूबी अभिव्यक्त किया है । इनका कथाविधान सदैव मंगलमय निर्णीत किया है । उन्होंने बार-

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ २४०

२- वही , खण्ड ६ , पृष्ठ २१०

बार बल देकर दर्शन के इस सत्य को प्रतिपादित किया है कि सुख और दुख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही मार्मिक अभिधान जीवन है । दर्शन इस जीवन की व्याख्या करके परम लक्ष्य की ओर ले जाता है । दर्शन और साहित्य का यह मंगलमय सम्बन्ध द्विवेदी जी का मौलिक वैशिष्ट्य है ।

साहित्य और राजनीति :

भारत में अति प्राचीनकाल से राजनीतिक चिन्तन की परम्परा चली आ रही है । यह बात अलग है कि प्राचीन भारत में राजनीतिक विषयों को अलग-अलग सन्दर्भों में रखकर चिन्तन किया गया था । भारत के प्राचीन साहित्य पर यहां की भौगोलिक दशा, यहां के लोगों के चरित्र उनके चिन्तन की विशिष्ट विधि अनेकता में एकता आदि ने विशेष प्रभाव डाला था । यह प्रभाव साहित्य में अभिव्यक्त होने पर उसे अलंकृत कर देता है । प्राचीन भारत में राजनीति को राजधर्म, दण्डनीति, नीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि के नामों से सम्बोधित किया गया । उदाहरण के लिये-विभिन्न वर्णों के धर्मादि का वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों में राजा के कर्तव्य आदि की चर्चा `राजधर्म` के अन्तर्गत की गयी । दण्डनीति के अन्तर्गत प्रजा पर नियन्त्रण तथा उन्हें धर्मानुसरण पर रखने के लिये प्रस्तावित नियमों की चर्चा की गयी । नीति शास्त्र के अन्तर्गत राजा द्वारा अपनाये जाने वाले साधनों तथा उपायों की चर्चा की गयी । `अर्थशास्त्र` के अन्तर्गत राज्य द्वारा व्यय, कर निर्धारण, प्रजा के अर्थहित आदि पर विचार किया गया । अन्ततोगत्वा यह सभी विषय राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित थे ।

विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत रचे गये काव्य, नाटक तथा आदि ग्रन्थों में प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, रघुवंश, `मालविकाग्निमित्रम्` `पंचतंत्र`, हितोपदेश, कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमारचरित तथा राजतरंगिणी आदि में राजनीति और साहित्य के गहरे और घनिष्ठ सम्बन्धों के सूचक हैं ।

द्विवेदी जी के अनुसार `साहित्य, राजनीति` में जिन प्राणों का

संचार कर सकती है वह सम्भवत: विशुद्ध राजनीतिज्ञ भी नहीं कर सकते । इस तथ्य का आभास हमें उनके रचित उपन्यासों में एवं निबन्धों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है । उनके अनेक निबन्धों में साहित्यकार द्वारा विशुद्ध राजनीतिज्ञों को दिये गये चेतावनी के स्वर भी मिलते हैं । चीन द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने राजनीति और साहित्य के मधुर सम्बन्धों की स्थापना करते हुए कहा है 'बुद्धिमान को स्वेच्छा से सही मार्ग पर चलना चाहिए । विवश होकर किसी बात को मानना, मौख्यत मूढ़ लोगों का काम है । अपनी भाषा में जब तक देश का सम्पूर्ण काम नहीं होता तब तक युद्ध में, कला में, उद्योग में, सहज बुद्धि सम्पन्न नेताओं का भी अभाव बना रहेगा ।[1] 'लड़ाई खत्म हो गई ' स्वतन्त्रता संघर्ष का इतिहास, २६ जनवरी, गणतन्त्र दिवस आदि निबन्धों में विशेषकर पुरातन प्रबन्ध संग्रह में द्विवेदी जी के साहित्यकार रूपी चिन्तन में राजनीतिक स्वर का बोध मिलता है ।

साहित्य और विज्ञान :

ऋग्वेद में सृष्टि के रहस्यों की चर्चा है और उसकी रचना शक्ति के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करते हुये रहस्यों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है । किन्तु समग्र रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में अध्यात्म एवं धर्म को ही विशेष महत्व दिया गया है । विकास के साथ-साथ शनै: शनै: भारतीय साहित्य में विज्ञान की शाखा प्रशाखाओं ने आध्यात्मिक चिन्तन के अन्तर्गत विकास करना प्रारम्भ किया गया । उदाहरणार्थ - यज्ञ के क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं के समाधान ने ज्योतिष और भूगोल के रूप में प्राप्ति की । शरीर रक्षा भोज्य तथा अभोज्य का भेद जानने के लिये आयुर्वेद और चिकित्सा विज्ञान का जन्म हुआ । दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के उत्पादन निर्माण तथा उनके रख-रखाव से सम्बन्धित आवश्यकताओं ने कृषि विज्ञान, भू विद्या, रसायन, विज्ञान, वस्तु विज्ञान आदि का विकास किया । इस विकासावस्था को प्राप्त करने में साहित्य ने विज्ञान के साथ

१- ह० प्र० ग्रन्था, खण्ड १०, पृष्ठ ४२८

सामंजस्य किया । वस्तुत: विचार ही सत्य होता है । कल्पना समय के साथ मूर्त रूप धारण करती है । विचार और कल्पना से उत्प्रेरित साहित्य सत्य और व्यवहारिक विज्ञान को यथार्थ में उत्पन्न किया । इस प्रकार साहित्य और विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

आचार्य द्विवेदी जी ने साहित्यकार के रूप में विज्ञान को एक बहुत बड़ी शक्ति माना है[१]। किन्तु वे विज्ञान की प्राप्ति के दुष्परिणामों के प्रति भी सचेत करते हैं, `विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य के भीतरी शक्ति के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिए[२]। साहित्य और विज्ञान का सामंजस्य ही मानवता के लिए कल्याणकारी होगा ।

साहित्य और कला :

कला व्यक्ति के मानसिक विकास का अन्यतम प्रकार है । उसमें व्यक्तित्व के मानस विकास की पूर्णता तभी होती है जब वह अपना साक्षात्कार कर लेता है । साहित्य की तरह कला भी हेतुमूलक होती है । किन्तु कला की रचना में आनन्द का अनुभव विशिष्ट होता है । कला अनात्मा पर आत्मा की छाप है । कला द्वारा मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है अपनी वस्तु की नहीं । कलात्मक वस्तु की परीक्षा हमें उस बिन्दु पर ले जाती है, जहां उसकी अन्तरंग व्याख्या आरम्भ होती है । प्रत्येक कला वस्तु किसी मनोभाव का स्थूल प्रतीक होती है । सच्ची कला का रूप और संदेश शाश्वत होता है । कलाकार के मन में जो प्रेरणा आती है वही रूप एवं अर्थ को दिव्य सौन्दर्य से ओत-प्रोत कर देती है । सच्ची कला के दर्शन से जो आनन्द अनुभव और मुग्धता आती है उसी को संवेग कहते हैं । अभिव्यक्ति द्वारा कुछ संवेग उत्पन्न कर देना ही कला है । साहित्यकार भी बहुत कुछ ऐसा ही करता है । द्विवेदी जी कहते हैं, `कवि जिस प्रकार का आवेग शब्दों के माध्यम से श्रोता

१- ह० प्र० ग्रन्थावली, खण्ड १०, पृष्ठ ६८

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ६६

के चित्त में उत्पन्न करता है । उसी प्रकार का आवेग चित्रकार रंगों के माध्यम से श्रोता के चित्त में उत्पन्न करता है । अन्तर इतना है कि कवि कान के माध्यम से और चित्रकार आंख के माध्यम से[1] ।

साहित्य और कला के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं, `साहित्य और कला में उन वस्तुओं पर अधिक बल दिया गया है जो शब्दों द्वारा संकेतित होती हैं, स्वयं शब्द मात्र नहीं । अजन्ता के चित्रों में और तत्कालीन साहित्य में जीवन का उमड़ता प्रवाह मिलता है[2] । कला और साहित्य के सम्बन्धों के विषय में द्विवेदी जी ने बड़े रोचक शब्दों में लिखा है, `प्रयोजन जहां समाप्त होता है, वहीं कला शुरू होती है । घी का लड्डू टेढ़ा भी बुरा नहीं होता, फिर भी मनुष्य उसे सुन्दर बनाकर सजाता और संवारता है । जहां तक स्वाद और भोग का प्रश्न है, घी का टेढ़ा लड्डू भी काम चला देता है, पर मनुष्य को तृप्ति उतने से नहीं होती । समस्त इन्द्रिय और मन परितृप्त होने चाहिए और बुद्धि भी सन्तुष्ट होनी चाहिए, तब जाकर कोई वस्तु रुचि संगत होती है । साहित्य और कला मिलकर यही काम करते हैं[3] ।

-o-

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ६६

२- वही , खण्ड ५, पृष्ठ २६

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ५५

शिक्षा

भारत में प्राचीनकाल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था । व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिये विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक है । मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव माना जाता रहा है । इस तथ्य को द्विवेदी जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट किया है । वे यह मानकर चलते हैं कि शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है । समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं एक तो वे जो प्रत्येक कार्य को समझ अथवा ज्ञान से करते हैं, दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते हैं । जो कर्म समझकर ज्ञान से किये जाते हैं वे ही कर्म शक्तिशाली तथा सफल होते हैं । शिक्षा समझकर किया जाने वाला कर्म है । द्विवेदी जी ने लिखा है कि मनुष्य अपनी समझ से ग्राह्यत्व या अग्राह्यत्व के सम्बन्ध में अपने ही मन में प्रश्न करता रहता है, जो ग्राह्यत्व कर्म उसे अधिक वजनदार मालूम होते हैं उन्हें वे स्वीकार करते हैं, जो कम वजनदार होते हैं उनकी ओर से उसे वितृष्णा होती है।[१]

द्विवेदी जी द्वारा १६ मार्च १६७४ को दिये गये दीक्षान्त भाषण में इस तथ्य की ओर संकेत मिलता है -- 'आपने आज कुछ प्रतिज्ञाएं की हैं । आपने सत्य बोलने की धर्माचरण की, स्वाध्याय से प्रमाद न करने की प्रतिज्ञा ली है - - - - -- - सत्य से, धर्म से, स्वाध्याय से आप जीवन को चरितार्थ करेंगे ।[२]

शिक्षा एक ऐसा कर्म है जो मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २०६

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३६४

है । मनु के अनुसार जन्म से सभी मनुष्य शूद्र उत्पन्न होते हैं परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान और कर्म से वे द्विज बन जाते हैं[1]। प्राचीन भारत में ब्राह्मण और विद्या का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था । द्विवेदी जी ने इस विषय में लिखा है, 'भारतवर्ष के उपलब्ध साहित्य में भी ब्राह्मण और विद्या का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट पाया जाता है - - - - ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमाने से ही भारतवर्ष में विद्या और कला के दो अलग-अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिये गये थे । वेदों और ब्रह्मविद्या का अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञान के रूप में था और लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना तथा जीवन यात्रा में अन्यान्य बातें कला का विषय समझी जाती रही । बहुत पहले से ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांग का नाम हो गया था और इसीलिये लिखना, पढ़ना, हिसाब-किताब रखना विविध भाषाओं और कौशलों की जानकारी कला नाम से चलने लगी थी[2]। प्राचीन मनीषियों ने ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र बताया तथा यह कहा है कि विद्या से बढ़कर कोई अन्य अन्तर्दृष्टि नहीं है ।

'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थ विलोकदक्षम्[3]।

'नास्ति विद्या समचक्षु:[4]'।

इस बात को द्विवेदी जी ने अपरोक्ष रूप में स्वीकार करते हुए कहा है, 'वह शिक्षा शिक्षा नहीं है जो संवेदनशून्य निष्क्रिय बना दे । वह क्या है, मैं नहीं जानता, कदाचित् कोल्हू है जो शिक्षित के दिमाग और हृदय को पेरकर रस-शून्य सम्वेदनशून्य खली बना देती है[5]।'

गुरु के सन्दर्भ में शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने उस शिक्षा को सार्थक बताया है जिससे व्यक्तित्व का सर्वोत्तम पक्ष उजागर

१- जन्मना जायते शूद्र: कर्मणा द्विज उच्यते ' - मनुस्मृति

२- ह० प्र० ग्रन्था, खण्ड १०, पृष्ठ ३७४

३- सुभाषित रत्न सन्दोह, पृष्ठ १६४

४- महाभारत

५- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३६४

हो, जो भीतर सोये हुये देवत्व को जगा दे ।[१] शास्त्रों में भी विद्याविहीन मनुष्य को पशुवत कहा गया है ।

`विद्या विहीन: पशु: ।
शुन: पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्या विना
न गुह्य गोपने शक्तं न च दंशनिवारणे` (नीतिशतक)

शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध प्रज्ञा सम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नहीं होता वरन् समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ, सन्मार्ग पर चलता हुआ विकसित होता है ।

शिक्षा मानव जीवन को किस प्रकार परिवर्तित करती है, इस बात को द्विवेदी जी ने स्पष्ट करते हुये लिखा है, `जो जैसा होने को बाध्य है वह `प्रकृति` है पर इसे परिमार्जित और वांछित दिशा में ले जाने वाला परिवर्तन `संस्कृति` कहा जाता है ।[२] संस्कृति कई अर्थों में संस्कार करती है । विद्या या शिक्षा संस्कार का ही सर्वोत्तम माध्यम है ।

गुरु-शिष्य परम्परा :-

प्राचीन भारत में विद्या अथवा शिक्षा के दो केन्द्र बिन्दु थे - गुरु तथा शिष्य । एक से विद्या मिलती थी और दूसरे को विद्या ग्रहण करनी होती थी । विद्या प्रदान करने वाला गुरुतर था । उसको देवता सदृश आदर, गरिमा तथा प्रतिष्ठा प्राप्त थी । छान्दोग्योपनिषद तथा श्वेताश्वतरोपनिषद में गुरु को ईश्वर के पद पर रखा गया है और उसे परम श्रद्धास्पद माना गया । आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में लिखा है --`शिष्य को चाहिये कि वह गुरु को भगवान की भांति माने ।[३] मनु के अनुसार जनक और

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३७६

२- वही ", खण्ड १०, पृष्ठ ३६२

३- छान्दोग्योपनिषद - ४,६,३, श्वेताश्वतरोपनिषद - ६।२३, आपस्तम्बधर्मसूत्र - १।२।६-१३

गुरु दोनों पिता हैं, किन्तु वह जनक (आचार्य) जो पुत्र को वेद का ज्ञान देता है, उस जनक (पिता) से महान है जो केवल शारीरिक श्रम देता है, क्योंकि आध्यात्मिक विद्या में जो श्रम होता है, वह इहलोक तथा परलोक दोनों में अक्षुण्ण एवं अक्षय होता है। द्विवेदी जी ने प्राचीन साहित्य में उल्लिखित गुरु के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, 'गु' का अर्थ अन्धकार है और 'रु' का अर्थ है, उसे दूर करने वाला। अर्थात् गुरु वह है जो मानसिक अन्धकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाश दे। धीरे-धीरे गुरु शब्द आध्यात्मिक सम्बन्धों में अधिक प्रचलित हो गया।[1] 'गुरु' शब्द का प्रयोग पुरुष या स्त्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिये भी प्रयुक्त किया जाता था[2]। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार - पिता, माता तथा आचार्य तीनों ही गुरु हैं।[3] मनु ने तीनों के लिये स्तुतिगान किये हैं। सामान्यतया आचार्य और उपाध्याय शब्दों को गुरु के ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। द्विवेदी जी ने 'आचार्य' शब्द की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है -- 'यह आचारपरक शब्द है। मनुस्मृति के अनुसार जो व्यक्ति समस्त शास्त्रार्थों का चयन करके शिष्य को उनका ज्ञान कराता है और स्वयं उस ज्ञान के अनुकूल आचरण करता है और शिष्य से भी कराता है वह आचार्य कहलाता है।[4] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार - 'विद्यार्थी आचार्य से अपने कर्तव्य (आचार) एकत्र करता है, इसीलिये वह आचार्य कहलाता है[5]। सदाचारपरायण, निश्छल व्यवहारवाला और समस्त परिस्थितियों में अनुद्विग्न रहने वाला एकनिष्ठ ज्ञान साधक ही गुरु पद का अधिकारी होता था। इस प्रकार वस्तुत: गुरु और आचार्य में कोई भेद नहीं है[6]। प्राचीन

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६४

२- याज्ञवल्क्यस्मृति - १।३४

३- विष्णुधर्मसूत्र - ३२।१-२

४- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६४

५- आपस्तम्बधर्मसूत्र - १।१।१-१४

६- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६४

परम्परागत विचारों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने गुरु के महत्व और उपादेयता को निरूपित करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'गुरु 'शास्त्र और आचार्य जहां एक ओर ज्ञान का एकनिष्ठ उपासक होता था, वहीं चरित्र का धनी और स्वभाव का निश्छल हुआ करता था।[1] द्विवेदी जी के इस विचार से हमें अथर्ववेद की वह उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार माता अपने शिशु को गर्भ में धारण कर लेने के बाद अपने आहार में से थोड़ा भी आहार घटाकर शिशु को नहीं दे सकती, उसी प्रकार आचार्य भी अपने नवजात शिशु को ज्ञान गर्भ के किसी भी ज्ञान से निराश नहीं कर सकता[2]।

गुरु की उच्च प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में शिष्य की पात्रता, योग्यता और गुणों के विषय में प्राचीन साहित्य में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। मनु ने शिक्षा आदि के लिये दस प्रकार के व्यक्तियों को उपयुक्त पात्र बताया है -- गुरुपुत्र, गुरुसेवी शिष्य जो बदले में ज्ञान दे सके, धर्मज्ञानी - या मन-देह से पवित्र हो, सत्यवादी जो अध्ययन करने और धारण करने में समर्थ हो, जो शिक्षण के लिये धन दे सके, जो व्यवस्थित मन का हो और जो निकट सम्बन्धी हो।[3] शिष्य की पात्रता, योग्यता और गुण का समग्र अर्थ अनुशासन के रूप में स्वीकार किया गया था। 'शिष्य वह है जो अनुशासित होता है, उसमें गुरु के प्रति श्रद्धा और शास्त्र के प्रति जिज्ञासा होनी चाहिये। उसमें विनम्रता और सेवा का भाव होना चाहिए।[4] शिष्य के गुणों और योग्यता का निर्धारण करते हुए, यह कहा गया कि शिष्य के दोष का दुष्परिणाम गुरु को भोगना पड़ता है[5]। कालीदास ने गुरु-

---

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६५-६५

२- आचार्य उपनयमानो, ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त: ।
- अथर्ववेद - ११।५।३

३- मनुस्मृति २।१०६ तथा ११२

४- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६५

५- वही , खण्ड ६, पृष्ठ ३६५

शिष्य सम्बन्धों को 'गुरु प्रियम' कहा है[१]। द्विवेदी जी ने इन समस्त सन्दर्भों से निष्कर्ष निकालते हुए, गुरु-शिष्य परम्परा को स्पष्ट किया है -- 'पुराने भारत में जहां गुरु असीम श्रद्धा का पात्र था और शिष्य भी उसके स्नेह और विश्वास का अविसंवादी अधिकारी था, वहीं यह विश्वास सबके हृदय में बद्धमूल हो गया था कि गुरु-शिष्य के पाप तथा पुण्य और यश एवं अपयश दोनों का भागीदार होता है।'[२] इसी विश्वास ने प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य परम्परा को ठोस नींव पर आरूढ़ किया था।

शिक्षा का विकास तथा विशेषताएं :-

भारतीय शिक्षा का क्रमिक विकास ईसा पूर्व दो हजार वर्षों से प्रारम्भ होता है। प्राचीनकाल में भारतीय शिक्षा के प्रत्येक पक्ष पर वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि के जीवन-दर्शन की छाप पड़ी। उन दिनों शिक्षा में जीवन-दर्शन तथा शिक्षा के बीच गहरा सम्बन्ध था। द्विवेदी जी कहते हैं, 'प्रारम्भ में विद्या ब्राह्मण के हाथ में रही और क्षात्र क्षत्रियों तथा वैश्यों के हाथ में, परन्तु यह वस्तुस्थिति कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में ही अवस्थित थी[३]। प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें ब्राह्मण क्षत्रियों से ब्रह्मविद्या पढ़ते थे। याज्ञवल्क्य ने जनक से विद्या सीखी थी। काशी नरेश अजातशत्रु से बालाकि गार्ग्य ने विद्या सीखी थी[४]। बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदों से भी ऐसे ही संकेत मिलते हैं। छान्दोग्य से जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जयवल से ब्रह्मविद्या ग्रहण की थी। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। डायसन जैसे कुछ चोटी के यूरोपीय विचारक इन प्रसंगों से यहां तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्म विद्या के मूल प्रचारक वस्तुत: क्षत्रिय ही थे। द्विवेदी जी ने अनेकानेक उदाहरण देकर यह मत

१- रघुवंश - ३।२६

२- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ ३६५

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७४

४- शतपथब्राह्मण - ११।६।२।१५

प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मविद्या एवं आध्यात्म दर्शन के तत्त्व-ज्ञानी प्राय: क्षत्रिय और शूद्र थे । द्विवेदी जी ने जनक श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर धर्मनिष्ठ मिथिला के व्याध, शूद्रागर्भ जात विदुर सूत जाति के लोमहर्षण संजय और सौति आदि का नामोल्लेख करते हुये इस विषय में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । निश्चय ही ये सब ब्रह्मविद्या के ज्ञानी तथा आध्यात्म क्षेत्र में महान विभूतियां थे । यह बात विशेष विचारणीय है कि फिर भी विद्या, ब्रह्मविद्या, आध्यात्म ज्ञान का एकाधिकार ब्राह्मणों को ही दिया गया । समस्त हिन्दू शास्त्रों में ब्राह्मण ही गुरु रूप में स्वीकृत पाये जाते हैं । वस्तुत: इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से मानी गयी । यदि ब्रह्म विद्या को विशेष विद्या मान लिया जाय, जैसा कि द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है, तो इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सामान्य शिक्षा से अलग ब्रह्म विद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएं वंश परम्परा से सीखी जाती थीं । अपने मूल रूप में ये विद्यायें ब्राह्मण मनीषियों से प्राप्त की गयी थी । पितृ परम्परा से प्राप्त शिक्षा का क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल पाया । इसके अनेक सामाजिक और आर्थिक कारण थे ।

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली का जो स्वरूप वैदिक काल में व्याप्त था वह महाकाव्य काल तक पर्याप्त परिवर्तित हो गयी थी । आर्थिक, सामाजिक आदि कारणों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने इन परिवर्तनों का उल्लेख किया है, 'महाभारत में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है, एक प्रकार के अध्यापक अपरिग्रही होते थे उनके पास विद्यार्थी जाते थे और वहीं रहकर भिक्षावृत्ति द्वारा गुरु का गृहकार्य करते और अपना व्यय-भार वहन करते थे । इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने महाभारत का उदाहरण देते हुये यह भी सूचित किया है कि अनेक गुरु विद्यार्थियों से अत्यधिक काम लेते थे[१] । दूसरे प्रकार के अध्यापक विद्यार्थी के घर पर ही प्रशिक्षण देते थे । वे वृत्तिभोगी अध्यापक थे[२] ।

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३७५

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७५

कुछ भी हो, विद्या शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मण के लिये आदर्श जीवन का नियमन किया गया। 'ब्राह्मण के लिये आदर्श यह था कि वह अत्यन्त निरीह भाव से गरीबी की जिन्दगी में रहे, परन्तु ऊंचे से ऊंचा ज्ञान और चरित्रबल रखे।'[१] समाज शिक्षा के क्षेत्र में शीर्षस्थ होकर वह अर्थ की चिन्ता से मुक्त था। प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन द्वारा ब्राह्मण अपना जीवन निर्वाह करता था परन्तु कालान्तर में यह आदर्श विशृंखल होने लगा। कर्मकाण्ड और अध्यापन उसके लिये अर्थकर मार्ग नहीं रह गये थे। सम्भवत: उसी समय दान लेने को सर्वोत्तम ब्राह्मण वृत्ति मान लिया गया था।[२]

बौद्ध युग में शिक्षा के विषय में अनेक परिवर्तन आये। इस समय शिक्षा के अनेक नये विषय भी प्रचलित हुए। ललितविस्तर के अनुसार महात्मा बुद्ध को बाल्यकाल में छियासी कलायें और चौंसठ काम कलायें सिखायी गयी थीं।[३] स्त्रियों को सीखने की कलायें पुरुषों की कलाओं से भिन्न थी। द्विवेदी जी ने उन विभिन्न शिक्षा प्रणालियों की ओर भी संकेत किया है जो उस युग में बड़े-बड़े नगरों के अलावा ग्रामीण स्तर पर प्रचलित थी। महाभारत और पुराणों से पता चलता है कि यज्ञों, मेलों, तीर्थों पर राजन्य द्वारा आयोजित शास्त्रार्थों से सामान्य प्रजा को ज्ञान-विज्ञान आदि शिक्षा के विषयों से परिचय मिलता रहता था।[४]

भारतीय शिक्षा के सुदीर्घ इतिहास में नाना भाव से शिक्षण देने की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने शिक्षा प्रथाओं का उल्लेख किया है और इन सबमें सर्वमान्य प्रथा की ओर इंगित करते हुए कहते हैं, 'इन सारी प्रथाओं के भीतर एक बात सर्वत्र सामान्य रूप से पाई जाती है वह है गुरु का प्राधान्य - शिक्षा की समस्त प्रथाओं में विद्या को जीवन से अभिन्न रूप में जोड़ा गया।[५]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३७६

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७६

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७६

४- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७७

मध्य युग की शिक्षा प्रणाली की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने यह स्पष्ट किया है कि बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ शिक्षा-प्रणाली और शिक्षा के आदर्श भी बदलते गये परन्तु "पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों से मार्ग में बाधा पड़ी है। परिस्थिति के साथ भारतीय मनीषा को निपटने का मौका नहीं दिया गया। विदेशी विद्वानों ने अपने लाभालाभ को सामने रखकर इस देश के लिए एक योजना बनाई और उस योजना के सांचे में आदमी ढाले जाने लगे[1]। द्विवेदी जी के शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन में हमें उनकी चिन्ता का बोध मिलता है। उनका विश्वास है कि आधुनिक युग में भारतीय शिक्षा के आदर्श और परम्परा बेतरह खण्डित हो चुके हैं। वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हम बाहर हस्तक्षेप की उपेक्षा करके, अपने सम्पूर्ण उपलब्ध साधनों का प्रयोग करके बदली हुई अवस्था के साथ अपनी शिक्षा प्रणाली का सामंजस्य स्थापित करें।" हमें पुराने साहित्य में इतने प्रकार के प्रयोग मिलते हैं कि किसी विशेष प्रथा को अपनी राष्ट्रीय प्रथा मानने का बन्धन स्वीकार करने की ज़रूरत नहीं है। केवल एक ही बात हमारी राष्ट्रीय परम्परा की देन है और हमारे स्वभाव संस्कारों से अविच्छेद्य रूप में सम्बद्ध है-गुरु का प्राधान्य। हमें बंधी योजनाओं और प्रणालियों पर उतना ज़ोर नहीं देना चाहिए जितनी आदर्श गुरु की खोज पर - - - - क्योंकि इस व्यवस्था के केन्द्र में 'गुरु' का रहना आवश्यक है[2]। वे गुरुकुल प्रणाली को भारतीय शिक्षा की प्रमुख देन मानते हैं। वस्तुत: हमने गुरुकुल प्रणाली को तिलांजलि दे दी है। गुरुकुल-जिसके केन्द्र में गुरु प्रतिष्ठित था, अब बात की बात है। हमने शिक्षा के क्षेत्र में कानून कुल की प्रणाली को अपना लिया है[3]। द्विवेदी जी परिवर्तन को अग्राह्य नहीं मानते परन्तु परिवर्तन की दिशा को सामूहिक कल्याण की ओर उन्मुख करना चाहते हैं। अपने

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३७७

२- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३७८

३- वही , खण्ड १०, पृष्ठ ३८०

दीक्षान्त भाषण में द्विवेदी जी ने एक आदर्श गुरु के रूप में शिक्षा के आदर्श का मानदण्ड स्थापित करते हुए यह सन्देश दिया है - `सत्य से, धर्म से, स्वाध्याय से आप जीवन को चरितार्थ करेंगे । इनके साथ धोखा-धड़ी करने में तात्कालिक लाभ भले ही मिल जाय, अन्त तक न आपका अपना हित हो सकेगा, न समाज का । मेरी हार्दिक शुभकामना है कि सत्य के, धर्म के निरन्तर ज्ञान ग्रहण करने के मार्ग से विचलित न हों[1] ।

-0-

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड १०, पृष्ठ ३६५

कला

कला की परिभाषा :-

कला शब्द की व्युत्पत्ति कल + अच् + टाप धातु तथा प्रत्ययों के संयोग से हुई है । इस शब्द का अर्थ किसी भी वस्तु का लघु, अंश, चन्द्र मण्डल का सोलहवां अंश, राशि के तीसवें भाग का साठवां अंश है । एक अन्य दृष्टिकोण से `कला` शब्द की व्युत्पत्ति `कवि` और `लास्य` के प्रथम अक्षरों से हुई है । कवि का `लास्य` शब्द का अर्थ है, नृत्य अथवा उछल कूद । कवि के काव्य में कवि के अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है । उसके अव्यक्त भाव शब्दों के माध्यम से और आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं । कला शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति इस प्रकार से निर्धारित की जा सकती है । क + ला = कामदेव, सौन्दर्य, प्रसन्नता, आनन्द ।`कलान्ति ददातीति कला` अर्थात् सौन्दर्य को दृश्य रूप में प्रकट कर देना ही कला है ।

सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में द्विवेदी जी सामान्य धरातल से हटकर कला की व्याख्या मानवीय सन्दर्भों में करते हैं । वे इसे एक गतिशील चेतना के रूप में देखते हैं और इसको व्यक्ति निष्ठता, वस्तुनिष्ठता तथा उभयनिष्ठता से अलग हटकर समस्त सृष्टि को ही कला के रूप में ईश्वर के आनन्दमय स्वरूप की अभिव्यक्ति मानते हैं । ललिता देवी को कलात्मक वृत्तियों की अधिष्ठात्री देवी मानते हुए द्विवेदी जी ने सौन्दर्य चेतना से इसकी अभिन्नता स्पष्ट करते हुए लिखा है, `जहां कहीं सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है, सौन्दर्य रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्य के आस्वादन का रस है - वहां महामाया का यही रूप वर्तमान रहता है, इसलिये सौन्दर्य के प्रति आकर्षण से मनुष्य के चित्त में परम शिव की आदि क्रीडेच्छा ही मूर्तिमान हो उठती है, वह प्रकारान्तर से महाशक्ति के ललितारूप की ही पूजा करता है । ललिता, कला और आनन्द की निधि है । वही समस्त प्रेरणाओं के रूप में विराजती है ।`[1]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३७२

शिव की विचित्रता पार्वती का सौन्दर्य, विभिन्न देवताओं में सौहार्द, सुरबालाओं की कामक्रीड़ा आदि के माध्यम से सौन्दर्य शास्त्र की व्याख्या की गयी है । इसी में कला की परिभाषा आधारभूत अर्थ और व्याख्या निहित है । द्विवेदी जीने शैवागमों का सहारा लेते हुए सृष्टि का विकास महाशिव की आदि सिसृक्षा से माना है । उनकी सिसृक्षा,सर्वेच्छा ही शक्ति के रूप में वर्तमान है । प्रलयकाल में जब शिव निष्क्रिय रहते हैं तब समस्त जगत को आत्मसात करके महामाया विराजती रहती है । जब शिव को लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तब यही महाशक्ति स्वरूपा महामाया जगत को रूपायित करती है । शिव की लीला सखी होने के कारण महामाया को ललिता कहा गया है । वे ललिता को कलात्मक देवी की अधिष्ठात्री देवी मानते हैं[१]। उन्होंने लिखा है - 'सत्पुरुषों के हृदय में निवास करने वाली ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिये प्रेरित करती है । - - - - - ललिता सहस्र नाम में इस देवी को 'चित्रकला', 'आनन्दकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरी', 'कलानिधि', 'काव्यकला', 'रसज्ञा', 'रसशेवधी आदि कहकर पुकारा गया है । वस्तुत: द्विवेदी जी कला को मानवीय सौन्दर्य का उच्चतम सोपान मानते हैं और इस सोपान की स्थापना वे ऐसे समग्र भाव से करते हैं जो धर्म, नैतिकता, भाषा इत्यादि मनुष्य की इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति के पृथक भावों को आत्मसात कर लेती है । कालिदास की लालित्य योजना में द्विवेदी जी ने लिखा है, 'भाषा में,शिल्प में , धर्म में, मूर्ति में, चित्र में बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छाशक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है जिसकी मीमांसा का संकल्प लेकर हम चले हैं ।

कला के स्वरूप और उसकी परिभाषा के सन्दर्भ में द्विवेदी जी कला को वह माध्यम मानते हैं जिसके द्वारा मनुष्य आत्म परिष्कार के उच्चतर सोपानों पर चढ़ता हुआ आह्लाद की उस भूमि तक पहुंच सकता है जहां उसे परमात्मा की

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३४

सिद्धता में उत्पन्न उस आनन्द की अनुभूति होती है जिससे प्रेरित होकर शिव ने शक्ति का सहारा लेकर प्रकृति के आल्हाद के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया। इस बात को द्विवेदी जी ने `कालिदास की लालित्य योजना` शीर्षक के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया है। वस्तुत: वे कला की परिभाषा `गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर` के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण के अनुरूप ही करते हैं। वे कला को माया रूप मानते हैं। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार- `कला की दृष्टि से संसार भगवान की लीला का मूर्त रूप है। इसके तत्व के जानने की चेष्टा करना अपने आपको भटका देना है। इसके द्वारा भीतरी रहस्य को जान पाना सम्भव नहीं - - - - - - रूप अपने माध्यम द्वारा अपनी प्रकृत अवस्था को नहीं प्रकट करता। इसमें आन्तरिक स्थिति को पकड़ने का सामर्थ्य नहीं। इसे माया कहकर भुठलाया जा सकता है किन्तु इससे इस माया का रचयिता कभी क्षुब्ध नहीं होता। कारण,कला माया रूप है। इसकी व्याख्या इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कि यह वही है जैसा कि वह लगती है।`

महात्मागांधी जी ने कला की परिभाषा बहुत सरल शब्दों में की है, `अपने समस्त अनुभवों के उपरान्त मैं यह कह सकता हूं कि जीवन की पवित्रता सबसे बड़ी व सच्ची कला है। जिसकी पृष्ठभूमि पवित्र नहीं, वह वास्तविक कला नहीं।`

द्विवेदी जी का विचार है कि भारतीय परम्परा में जीवन के किसी भी क्षेत्र में `असुन्दर` को सहन नहीं किया गया है, जो जाति सुन्दर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक विकास उसके भाग्य में नहीं बदा होता।[1] भारत का अतीत जिसमें यहां की सभ्यता और संस्कृति फली फूली उसमें सुन्दर की दृष्टि, रक्षा और सम्मान के प्रति विशेष जागरूकता थी। वेद काल से लेकर एक पर्याप्त विस्तृत समय तक निर्मित कला को देखकर यह ज्ञात होता है कि उस समय भारतीय संस्कृति

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३६६

शाश्वत यौवन, कौलीन्य और गर्वनिहित था । भारतीय सभ्यता का कण-कण छन्द राग और रस से भरा हुआ था । `उस समय इस देश में एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी जो सौन्दर्य की सृष्टि, रक्षण और सम्मान में अपनी उपमा स्वयं ही थी । उस समय के काव्य, नाटक,आख्यान, आख्यायिका, चित्र मूर्ति प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय विमुग्ध होकर देखता रह जाता है । उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है और रस है, उस युग में भारतवासियों ने जीने की कला का आविष्कार किया था[१] । नि:सन्देह उस युग में भारतीयों ने ऐसी कला का आविष्कार किया था जिसे जीवन की कला कहा जा सकता है ।

सौन्दर्य की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की बात करते हुये द्विवेदी जी कहते हैं - `सच्ची कला वही है जो मनुष्य को केवल लोभ मोह का गुलाम न रहने दे, केवल उदर परायण इन्द्रियदास न बन जाने दे बल्कि उसे स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाये, पर दुःखकातर बनाये, सम्वेदनशील बनाये । कला मनुष्य की उस तपस्या का मूर्त रूप है जो उसे विकास की ओर ले जा रही है[२]` कला की परिभाषा करते हुए द्विवेदी जी कला को वह साधन मानते हैं जो उसे परमतत्व की ओर उन्मुख करती है ।[३] वे कला का उद्गम मांगल्यमूलक मानते हैं, `आदि मानव की रूप रचना मांगल्यमूलक थी भयमूलक नहीं`[४] ।

द्विवेदी जी के समस्त साहित्य का अनुशीलन करते हुए संक्षेप में हम कला की परिभाषा को सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कह सकते हैं -`कला का तात्पर्य केवल मनोविनोद या भोगविलास से नहीं । भारतीय कला परिभाषा

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३६६

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २३०

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३७४

४- वही , खण्ड ७, पृष्ठ २६

में तत्ववाद, कल्पनात्मक विस्तार और ऐतिहासिक परम्परा को प्राधान्य प्राप्त है । कला के अन्तर्निहित तत्ववाद को भारतीय कलाकार सर्वोपरि समझता आया है और उसका यह विश्वास रहा है कि जिसकी विश्रान्ति भोग में है वह कला नहीं है परन्तु जिसका संकेत परमतत्व की ओर है और जिसका इष्ट मनुष्यता है वही कला वस्तुत: कला है । ऐसी कला ही सुन्दर की सृष्टि रक्षा और सम्मान कर सकती है । वस्तुत: कला अनात्मा पर आत्मा की छाप है । सच्ची कला का रूप और सन्देश शाश्वत होता है । उसकी सौन्दर्य भावना ढलती नहीं, उसके लावण्य की ध्वनि फिर फिर कर मन को झंकृत कर देती है । सच्ची कला के दर्शन से जो आनन्द अनुभव होता है वही उसकी सफलता है । भारतीय कला इस बात की प्रतीक है कि सौन्दर्य, आत्मविजय, पवित्रता, साहस, जीवन में एकता और भाई चारे से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है ।

कला के तत्व :-

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला के चार तत्व माने गये हैं -- (१) रस, कला की आत्मा रस है । मनुष्य का मन विचारों और कल्पना की खान है । भावों और कल्पना द्वारा कला का उदय होता है । मन में जो नाना भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कला द्वारा व्यक्त किया जाता है । इसी अनुभूति से रस की उत्पत्ति होती है । द्विवेदी जी के अनुसार `रस विश्वजनीन होता है उसमें वैयक्तिक राग द्वेष नहीं होता ।`रस बोध के समय सहृदय विभावों के साथ अपना अभेद अनुभव करता है । अभेद की अनुभूति में कोई बाधा पड़े तो रसानुभव असम्भव हो जाता है । - - - -अन्यत्व को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानन्द की अनुभव कराने वाला यह रस अलौकिक चमत्कारी है । (२) अर्थ-- अर्थ का अभिप्राय विषय से है । अर्थ की जिज्ञासा विषय को उत्पन्न करती है । प्रत्येक कला की कृति पर अर्थ लिपि रहती है, अर्थ ही कला का नेत्र है । अर्थ की जिज्ञासा हमें कला के प्रतीकात्मक स्वरूप के निकट ले जाती है ।

(३) कल्पना -- ध्यान की शक्ति से चित्त में रस को उत्पन्न करना कल्पना है । द्विवेदी जी का मत है, 'कल्पना की अवस्था में कलाकार वर्तमान जगत के अनुकूल और विसदृश्य परिस्थितियों से ऊबकर एक अनुकूल और मनोरम जगत की सृष्टि करता है । कुछ लोग इसे कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी कहते हैं[1] । कल्पना के प्रभाव में ही कलाकार अपनी अभिव्यक्ति करता है ।

(४) रूप :-- रस, अर्थ और कल्पना को भौतिक धरातल पर उतारना रूप है । रूप का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है । इन्द्रियों के माध्यम से रूप मन पर प्रभाव डालता है । 'रूप सर्जना कलाकार का मुख्य उद्देश्य है अगर कलाकार रूप की सृष्टि नहीं करता तो वह कुछ भी नहीं करता । कवि, गीतकार, चित्रकार और मूर्तिकार का मुख्य उद्देश्य है रूप देना[2] ।

कला के प्रकार :-

संस्कृत साहित्य में कला शब्द का ही प्रयोग लगभग बीस अर्थों में हुआ है । अर्थों की विभिन्नता निश्चित रूप में यह संकेत देती है कि कला के प्रकार निश्चय ही इससे अधिक रहे होंगे । वस्तुत: कला की संख्या कोई सीमित नहीं है । सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाएं कला कहलाती थीं[3] । कला के प्रकार के सम्बन्ध में सबसे प्रसिद्ध संख्या चौंसठ है । कामसूत्र तथा शुक्रनीति में चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है । इन दोनों की सूची सर्वत्र एक नहीं है परन्तु दृष्टिकोण में ये दोनों प्राय: एक हैं । प्रबन्ध-कोश में बासठ तथा बौद्ध ग्रन्थ, ललितविस्तर में छियासी कलाओं का नामोल्लेख है । काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने कलाओं पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है । इसमें चौंसठ जनोपयोगी तथा बत्तीस चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की है । बत्तीस मात्सर्य शील प्रधान भाव की है । इनके अतिरिक्त चौंसठ कलायें स्वर्णकारों द्वारा स्वर्ण चुराने की चौंसठ कलायें वेश्या को मोहित करके पैसा

१- ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ २०६

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ४०

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३७५

ऐंठने की, दस भैषज कलायें आदि की चर्चा है । 'कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमें थोड़ी-सी चतुराई की आवश्यकता हो । व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला हैं[1]। इन उल्लेखों का सूक्ष्म रूप में निरूपण करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्राचीन भारत में सम्भवत: कला उन सारी क्रियाओं या जानकारियों को कहा जाता था, जिनमें विशेष कौशल की आवश्यकता होती थी । द्विवेदी जी ने उल्लेख किया है, 'कादम्बरी' में वैशम्पायन नामक तोते को चाण्डाल कन्या जब राजा शूद्रक की सभा में ले गयी तो उसके साथी ने उस तोते में उन सभी गुणों का होना बताया था वे सभी कला के अन्तर्गत गिनाये गये हैं । 'सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियायें कला कहलाती थीं । कला के नाम पर कभी-कभी लोगों से ऐसा काम करने को कहा गया है कि आश्चर्य होता है[2]।

आधुनिक दृष्टिकोण से कलाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है :- (१) उपयोगी कलायें तथा (२) ललित कलायें । उपयोगी कलाओं का सम्बन्ध मानव जीवन के दैनिक और भौतिक आवश्यकताओं से है । इस वर्ग में वस्त्र निर्माण, काष्ठ की दैनिक उपयोगी वस्तुयें, आभूषण निर्माण, भोजन, पकवान बनाना आदि की गणना की जाती है । वस्तुत: इस वर्ग की कलाओं द्वारा जीवन निर्वाह में सरलता तथा उपयोगिता प्राप्त होती है ।

ललित कलाओं के वर्ग में सौन्दर्यानुभूति तथा आनन्द प्रदान करने वाली कलाओं की गणना की जाती है । ललित कला के नाम से अभिहित की जाने वाली कला वे हैं जिनकी अनुभूति से आत्मा का विकास हो, हमारे मन का रंजन हो, हमारी चेतना सजीव हो । आचार्य द्विवेदी जी ने कला के प्रकारान्तर का कारण यह बताया है कि आगे चलकर समयान्तर से कला का अर्थ कौशल हो गया[3]। द्विवेदी जी ने विभिन्न कला सूचियों में दिये गये कला

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ७, पृष्ठ ३७६

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३७५

३- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३८०

प्रकारों का विश्लेषण करते हुये यह कहा है, 'कभी-कभी स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया है कि यह पुरुषोचित कलायें हैं, ये स्त्रियों की कलायें हैं या अन्य किसी साधारण व्यक्ति के लिये कलायें हैं - -- - -विश्लेषण करके देखा जाय तो उनमें एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक, बाकी में कुछ विलास क्रीड़ा के सहायक विनोद हैं। कुछ दैनिक प्रयोजन के पूरक कार्य हैं और कुछ विशुद्ध मनोविनोद के साधक हैं[१]।

आकृति प्रतिकृति और अभिव्यक्ति के आधार पर कला को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। सौन्दर्य एवं सौष्ठवपूर्ण कला कृतियां, आकृति प्रधान, प्रकृति घटना तथा मानवीय सौन्दर्य की यथार्थ कृतियां,प्रतिकृति प्रधान ; अमूर्त भावों को कल्पना द्वारा अभिव्यक्त करने वाली कृतियां अभिव्यक्ति प्रधान। भारतीय कला में आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति अधिक है। रस की अभिव्यक्ति ही इस कला का चरम लक्ष्य था इसीलिये यह उतनी यथार्थ और पार्थिव सौन्दर्य से युक्त न होते हुये भी सजीव और प्राणवान है।

कला का लक्ष्य :-

कला के लक्ष्य की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं --'कला भी वही श्रेष्ठ है जो मनुष्य को अपने आपमें ही सीमित न रखकर परमतत्व की ओर उन्मुख कर देती है। कला का लक्ष्य कला नहीं है। उसका लक्ष्य है आत्मस्वरूप का साक्षात्कार या परमतत्व की ओर उन्मुखीकरण। - - - - भारतवर्ष के उत्तम कवियों, कलाकारों और सहृदयों के मन में यह आदर्श बराबर काम करता रहा है। इसको जो भोग में विश्रान्ति है वह ठीक नहीं है, वह कला बन्धन है ; पर जिसका इशारा परमतत्व की ओर है ; वही कला कला है ;

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥[२]

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २२६

२- वही , खण्ड ७, पृष्ठ ३७३-७४

द्विवेदी जी की इस मान्यता से यह स्पष्ट होता है कि कला का लक्ष्य कला के लिये न होकर आत्म से साक्षात् करने के माध्यम होने में ही निहित है। आध्यात्मिक तत्वों की ओर प्रवृत्त करना इस कला का चरम उद्देश्य था। इसी कारण से भारतीय कला में भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों तथा आध्यात्म के दर्शन होते हैं। भारत की उन्नत कला में हम धार्मिक भावनाओं और ईश्वर के प्रति उनके गम्भीर चिन्तन का भेदपूर्ण श्रेष्ठ और पर्याप्त वर्णन पाते हैं। वैसे तो सभी प्राचीन संस्कृतियों की कला का लक्ष्य प्राय: धर्म था किन्तु भारतीय कला में यह लक्ष्य अत्यन्त स्पष्ट है।

कला के लक्ष्य को इंगित करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं - 'कला का एकमात्र प्रयोजन है मनुष्य को सुसंस्कृत मनुष्य बनाना। केवल शुष्क ज्ञानी नहीं। केवल विदग्ध रसिक नहीं, केवल मुट्ठी भर अन्न के लिये कमरतोड़ परिश्रम करने वाला बैल भी नहीं। कला का उपदेश है - ज्ञान और सौन्दर्य का समुचित उपभोग।[१] द्विवेदी जी का विश्वास है कि कला के इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर भारतीय कलाकार महान वस्तुओं का निर्माण कर सका था। इसका अन्य कारण यह था कि वह सौन्दर्य के उत्पादन में जो साधना और निष्ठा आवश्यक होती थी उससे परिचित था।

भारत में कला जीवन का विलास थी 'वह मनुष्य के हृदय, मनीषा और भावावेगों से इस प्रकार नहीं निकली कि दुनियां में उसकी कहीं जड़ ही नहीं जमी हो। कला सीधे मानव-जीवन से प्रसूत होती है और उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। कला उन सारी बातों का जीवन्त विवरण है जिसे मनुष्य ने देखा है, सोचा है, वह मनुष्य की उस सुसंस्कृत प्रतिभा से उत्पन्न होती है जो उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व के महान आसन पर बिठाती है।[२] इस प्रकार द्विवेदी जी कला का

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २३०

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २३०

लक्ष्य मानवतावाद ही इंगित करते हैं । इस लक्ष्य को और स्पष्ट करते हुये लिखा है - सच्ची कला वही है जो मनुष्य को केवल लोभ मोह का गुलाम न रहने दे केवल उदरपरायण इन्द्रिय दास न बन जाने दे बल्कि उसे स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाये पर-दुखकातर बनाये, संवेदनशील बनाये[१]। वस्तुत: कला मनुष्य का वह तप है जो उसे विकास की ओर ले जाता है । इस तप को द्विवेदी जी महान मानते हैं । कला की यह तपस्या इसलिये बड़ी है कि "उससे मनुष्य में उन मानवोचित गुणों का विकास होता है जिसे सच्ची मनुष्यता कहते हैं - -- --- - कला इन्हीं तपस्याओं का साक्षात् फल है । इसने मनुष्य को उस रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है जो मनुष्य को मनुष्यता की ओर ले जाती है[२]।

कला का अन्य विधाओं से सम्बन्ध :-

कला के विषय में विचार करते समय स्वाभाविक रूप में यह प्रश्न उठता है कि इसमें सभ्यता और संस्कृति को क्या प्रेरणा दी और इनसे क्या ग्रहण किया । इस प्रश्न के उत्तर से कला का अन्य विधाओं से सम्बन्ध स्पष्ट होता है । किसी भी ऐतिहासिक विकास के कई पारर्व होते हैं, जैसे - धर्म, समाज, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, कौशल उद्योग आदि । अन्य विधाओं से कला के सम्बन्ध से कला के लक्ष्य और प्रभाव का परिचय मिलता ही है साथ ही इससे भावी विकास की योजना के लिये दिशा का निर्देशन होता है । प्रत्येक देश और जाति ने अनेक युगों में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और सामर्थ्य से वैभव और शक्ति से अपनी अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है । कला के स्तर पर भारत का अन्य देशों की संस्कृति से व्यापार की ही भांति आदान-प्रदान हुआ । प्रारम्भ काल से ही कला का एक कार्य मनोरंजन और मनोविनोद था । इसके अतिरिक्त इसका धर्म के साथ भी गहरा

१- ह० प्र० ग्रन्था०, खण्ड ६, पृष्ठ २३०

२- वही , खण्ड ६, पृष्ठ २३१

सम्बन्ध था । भारतीय कला में हमें भारतीय दर्शन के सिद्धान्त एवं अध्यात्म के दर्शन होते हैं । भारतीय कलाकार प्रारम्भ से ही इस विश्वास को लेकर चला है कि वह धर्म की सेवा भी कर रहा है और साथ ही व्यवसायिक उत्तरदायित्व भी पूरा कर रहा है ।

समाजशास्त्र से भारतीय कला प्रारम्भ से ही अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रही । इस कला की उत्पत्ति और विकास एक विशिष्ट वातावरण में हुआ और भारत की सामाजिक परिस्थितियों ने कला को अभिव्यक्ति के रूपों का निर्धारण करके उसकी गति पर नियन्त्रण रखा । कला और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का पता हमें द्विवेदी जी के 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में मिलता है । द्विवेदी जी के साहित्य का अनुशीलन करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि कला द्वारा मन का विनोद कला का व्यापक उद्देश्य था । विनोद की सबसे प्रथम और बड़ी आवश्यकता है, बंधनों से मुक्ति । यद्यपि धर्म और नीति विनोद की प्रवृत्ति को मर्यादित और संस्कृत करने का सतत प्रयत्न करते आये हैं परन्तु विनोद की आवश्यकता ने भारतीय कला को बहुत अधिक सीमा तक बन्धन मुक्त किया । भारतीय कला ने धार्मिक क्षेत्र से बाहर भी केवल स्वच्छन्द हास-विलास मनोविनोद रस क्रीड़ा और उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति के क्षेत्रों में अपने सौन्दर्य से जन मन को आप्लावित किया । यह राजप्रासादों में रही और इसने राजशक्ति का भी उपभोग किया । इसे धनिकों का वैभव विशेषत: रुचिकर रहा परन्तु प्रतिभावान दारिद्र्य भी इसे अप्रिय नहीं था । 'भारत के कलात्मक विनोद' में द्विवेदी जी ने प्रत्येक अवयव पर पढ़े और बेपढ़े, मूर्ख और विद्वान, धनी और निर्धन सभी के लिये कला के वैशिष्ट्य का निरूपण किया है ।

साहित्य और कला का परस्पर सम्बन्ध बहुत गहरा है । प्रतीत होता है कि लोकमंगल की प्रेरणा ने साहित्य और कला दोनों को एक साथ ही उत्पन्न किया है । द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में स्पष्ट किया है कि साहित्यकार को कलाकार होना बहुत आवश्यक है । वस्तुत: कलाविद् ही साहित्य के मर्म को भलीभांति समझ सकता है । साहित्य मर्मज्ञ कला को

आन्तरिक परीक्षा भलीभांति कर सकता है । द्विवेदी जी ने यह कार्य बड़ी कुशलता से किया है । उनके द्वारा कालिदास, बाण, भवभूति, तुलसी,सूर, कबीर आदि के सन्दर्भ में कला का सबोध वर्णन मिलता है । यही नहीं उनके समस्त वाङ्मय में वेशभूषा, अलंकरण, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र आदि विविध कलाओं के उपकरणों के वर्णन मिलते हैं । यदि कला की दृष्टि से उनके साहित्य का अध्ययन किया जाय तो वह निश्चय ही द्विवेदी जी साहित्यकार होने के साथ-साथ कला के मर्मज्ञ भी हैं । यदि कहा जाय कि उन्होंने कला को साहित्यिक अभिव्यक्ति दिया है तो अत्युक्ति न होगी ।

-0-

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के गत छ: अध्यायों में आचार्य द्विवेदी जी के सम्पूर्ण वाङ्मय के आधार पर 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप' विवेचन करने का उपक्रम किया गया है। 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप' यह विषय जितना रोचक है उतनी ही अधिक गम्भीर। अध्ययन के उपरान्त हमारी यह निश्चित धारणा बन गयी है कि भारतीय संस्कृति के विषय में 'इदमित्थं' कहना सम्भव नहीं है।

प्रथम अध्याय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व-कृतित्व और जीवन-वृत्त का मनरोखा प्रस्तुत करता है --

हजमाराति या देवी महामाया स्वरूपिणी,
सा हजाराति सम्प्रोक्ता राधेति त्रिपुरेति वा।

द्वितीय अध्याय : द्विवेदी जी के वाङ्मय के आधार पर संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति के रूप-स्वरूप और विकास प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। द्विवेदी जी ने संस्कृति को जिस व्यापक सार्वदेशिक और सार्वकालिक प्रवाह के रूप में उजागर किया है, उसे वे किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की मौलिकता नहीं मानते। उनके विचार में अखिल विश्व के मानव की एक ही सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है।

प्राचीनकाल में भारत में जिस संस्कृति का विकास हुआ, वह अनेक दृष्टियों से तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी। इस दिशा में सबसे अधिक महत्व उस विचारणा को है जिसने कश्मीर से कन्याकुमारी तक और गुजरात से असम तक के प्रदेश को भारत की संज्ञा दी। इस प्रदेश की सांस्कृतिक और राजनैतिक एकता को बनाने का सर्वप्रथम श्रेय उन ऋषियों को है, जिन्होंने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के कतिपय उन सांस्कृतिक आदर्शों को ढूंढ निकाला, जिन्हें अपनाने के लिये तत्कालीन सम्पूर्ण भारतीय जनता उत्सुक हो उठी। वर्तमान के सन्दर्भ में यह श्रेय द्विवेदी जी को किंचित् सीमितता के साथ

दिया जा सकता है । `भारतीय संस्कृति की देन` नामक निबन्ध में द्विवेदी जी जिस समय का चित्र काल्पनिक नेत्रों से देखने में आनन्दित हुए हैं, वही चित्र मनुस्मृति के इस श्लोक में मिलता है --

तमु आसीत्तमसा गूढम ग्रेऽप्रकेतं सलिल सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत्तपसस्त-महिनाजायतेकम् ।।

अर्थात् घोर अन्धकार छाया था, चारों ओर प्रलयंकारी वृष्टि से सब कुछ जलमग्न था । पथिक को ऐसी स्थिति में कुछ भी तो नहीं दिखाई देता था, वह किधर जाये और क्या करे । ऐसी स्थिति में तप की साधना से एक ज्योति प्रस्फुटित हुई ।`

मानव जययात्रा यहीं से प्रारम्भ हुई । काल चक्र के साथ मनुष्य ने कमाल का उत्कर्ष दिखाया । मनुष्य की उर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तोष होता गया । भारत में एक समाज बना । इस समाज के अंग बने वे सभी लोग जो उस समय भारत में रहते थे । उस समय अनेक जन समुदाय थे । जिनका रहन-सहन, भाषा और उद्यम एवं औद्योगिक प्रवृत्तियां भिन्न थीं । ऋषियों ने सबसे कहा-यह भूमि तुम्हारी माता है और तुम सभी एक पिता के पुत्र हो । इस प्रकार का भाव सबके संबन्धन के लिये था । इस तरह मनुष्य संबद्ध होकर रहने लगा । सामाजिक संगठन के लिये विधि-विधान बने और इसको दोषहीन और गतिशील बनाने के लिये दण्ड पुरस्कार की व्यवस्था की गयी । यह सब चीजें आज भी `हिन्दू संस्कृति` में देखी जा सकती है ।

भारत एक विशाल देश है । ऐसे विशाल देश में सांस्कृतिक या सामाजिक एकसूत्रता होते हुये भी नाना प्रवृत्तियों, विभिन्न रीतियों और वेश-भूषा का होना स्वाभाविक है । यह विभिन्नता तब और भी द्विगुणित हो गयी जब अनेक विदेशी जातियां आक्रमणकारी के रूप में (न कि हमारी संस्कृति से आकर्षित होकर) भारत में आईं । अपने आक्रमण की शृंखला में उन्होंने जो कुछ भी किया वह अलग बात है, किन्तु भारत ने उनको किस प्रकार स्वयम्भू कर लिया, यह मुख्य बात है । द्विवेदी जी ने अपने सांस्कृतिक

सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति की इसी प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण बताया है ।

द्विवेदी जी ने एक सक्षम आलोचक की भांति भारतीय संस्कृति की विसंगतियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है । संस्कृति के स्वरूप को प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा रखना तो ठीक है परन्तु यह प्रयास अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र संग्रह करने के लिये नहीं किया जाना चाहिए ।

द्विवेदी जी के सांस्कृतिक लेखन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणति यह है कि उसमें हमें 'मरे हुए बच्चे को गोद में लिपटाये रहने वाली बंदरिया हमारा आदर्श नहीं बन सकती ' का चेतावनी भरा शब्द सुनाई देता है और चेतावनी देते हुए वे इस ओर से निश्चिन्त हैं कि 'भारतीय मनीषियों ने अपने देशवासियों में जीवन के आवश्यक कर्तव्यों, संयम और वैराग्य की महिमा और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर झुकने का जो प्रेम पैदा किया उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक पशुतुल्य क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम नहीं बन सका ।

उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि भारतीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने वाले प्रत्येक पहलू का अध्ययन और प्रकाशन हमारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिए ।

भारतीय संस्कृति के लिये प्रमुख चुनौती विदेशी आक्रमण रहे । उनके प्रति उत्तर में बार-बार उदार समन्वय का यत्न किया गया, किन्तु साथ ही साथ विषमताओं और असमन्वित अंशों में वृद्धि हुई है । एक सर्वाङ्गीण समन्वित सामाजिक संस्थान की खोज ने सदा उपस्थित सांस्कृतिक सुरक्षा की खोज कर कठिनाइयों को और भी अधिक जटिल बना दिया है । इन्हें हल करने के लिये अनेक समन्वित प्रयास किये जाते रहे हैं, किन्तु सफलता के सामने लगा प्रश्न-चिह्न अभी भी मिट नहीं पाया, यह सत्य सम्भवतः द्विवेदी जी को स्वीकार्य नहीं है ।

भारतवर्ष क्या है ? इसकी चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, 'यहां अनेक प्रकार के मानवीय समूह विद्यमान रहे हैं । ये जातियां कुछ देर तक झगड़ती रही हैं और फिर रगड़ झगड़कर, ले देकर पास ही पास बस गयी हैं - भाइयों की तरह । इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय यह भारतवर्ष है ।

भारतीय संस्कृति के विकास का तो दृश्यपट हमारे सामने विस्तृत है, उसमें दृश्यावलियां परिवर्तित होती रही हैं, परन्तु विकास-क्रम अविच्छिन्न अबाधगति से निरन्तर चलता आ रहा है । विचार, चिन्तन, दर्शन एवं परिस्थितियों की विविधता के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक घटनाक्रम भारतभूमि पर हुआ, उसकी तह में छिपी तात्त्विक एकरूपता की ओर प्रगति के शाश्वत सिद्धान्तों का अन्वेषण हमें द्विवेदी जी के साहित्य के सांस्कृतिक प्रसंगों में भरपूर देखने को मिलता है । द्विवेदी जी के साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति के विकास की विस्तृत चर्चा के दौरान हमने देखा कि विभिन्न ऐतिहासिक क्रमों से गुजरते हुए भारतीय सामाजिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रणालियों, दर्शन, धर्म, साहित्य, शिक्षा, कला आदि के क्षेत्र में प्राचीन भारत में आश्चर्यजनक मौलिक मापदण्ड स्थापित हुए ।

भारतीय संस्कृति के विकास के मध्ययुग में हमने इस्लाम धर्म के अनुयायियों को भारत में आकर बसने और शासन करने के क्रम को देखा । इस काल में हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक टकराव के फलस्वरूप अनेकानेक कठिनाइयां उत्पन्न हुईं । इस्लाम की विजय के साथ भारत की हानि के साथ-साथ कुछ लाभ भी हुए । इससे हमारे राष्ट्रीय जीवन में शक्ति के कुछ नये तत्वों का समावेश हुआ जो प्रशंसनीय है । इस्लाम के आगमन से भारत के राजनीतिक जीवन में कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए, किन्तु सामाजिक ढांचे को प्रबल चुनौती का सामना करना पड़ा । समतावादी दर्शन के बावजूद इस्लाम का प्रभाव भारत की जाति प्रथा को तनिक भी प्रभावित न कर सका । भारत में इस्लाम ने जाति युक्त समाज के सम्मुख घुटने टेक दिये । इस तथ्य ने निश्चय ही इस्लाम की सामाजिक गतिशीलता को कम कर दिया । 'भारत नाना जातियों के

अमघट का देश बना रहा । द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में मध्ययुगीन सांस्कृतिक जीवन और उसके विकास का बड़ा ही स्पष्ट निरूपण किया है । इस काल में स्वस्थ्य सांस्कृतिक विकास-गति निश्चय ही अवरुद्ध हो गयी थी ।

भारत के सामाजिक जीवन में मुसलमानों तथा उनकी संस्कृति के साथ सामंजस्य करना तत्कालीन परिस्थितियों की एक प्रबल चुनौती थी । यद्यपि इससे पहले जो विदेशी संस्कृतियां भारत में आई थी उनको भारतीय संस्कृति ने आत्मसात् कर लिया था किन्तु मुसलमान जाति, इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को आत्मसात् कर सकना भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति के लिये सहज नहीं हुआ । द्विवेदी जी ने इसके कारणों का व्यापक उल्लेख किया है । मुसलमान भारत में बस गये - इसका गुणात्मक महत्व यह हुआ कि अब भारत के सांस्कृतिक विकास-क्रम में पारस्परिक आदान-प्रदान का एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया। द्विवेदी जी का निष्कर्ष है कि 'वस्तुत: हिन्दू-मुस्लिम एकता भी साधन है, साध्य नहीं । साध्य है मनुष्य को पशु-सामान्य स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यता के आसन पर बैठाना ।

उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति में वास्तविक टकराव हुआ । अंग्रेजों ने धार्मिक व तथा सामाजिक एकता को नष्ट करने तथा राष्ट्रवादी तत्वों को शिथिल बनाने के लिये प्रतिक्रियावादी तत्वों को बढ़ावा दिया । इसके फलस्वरूप अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीयों ने प्रत्येक पश्चिमी वस्तु तथा विचार की प्रशंसा की तथा अपनी संस्कृति को निर्जीव बताया । अनेक लोगों ने धर्म परिवर्तन कर अपनी ही संस्कृति में सन्देह किया। तत्कालीन समाज में ही कुछ विभूतियों ने अपनी संस्कृति तथा धर्म के प्राचीन महत्व से प्रेरणा ली तथा धर्म एवं समाज को सुप्तावस्था से जगाया । इसके फलस्वरूप अनेक सुधारवादी आन्दोलन धर्म-युद्ध तथा बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करने के लिए संगठित प्रयास हुये । इस समय के धार्मिक आन्दोलन की प्रवृत्ति धर्मनिरपेक्ष, जनतान्त्रीय, समन्वयकारी सहिष्णु तथा उदार थी । धार्मिक सुधार, सामाजिक आन्दोलन की अन्यतम विशेषता उनके राजनीतिक महत्व से सम्बन्धित थी । इन आन्दोलनों ने आत्मविश्वास की

भावना को जागृत करके विकासमान राष्ट्रीयता को प्रबल बनाया । कालान्तर में इसी राष्ट्रीयता ने भारत को स्वाधीनता दिलाई ।

यह एक सामान्य सत्य है कि जिस सांस्कृतिक वातावरण में मनुष्य वर्तमान में रहता है, उसके प्रति वह सम्भावनाओं और आशंकाओं से ग्रस्त रहता है । वर्तमान सांस्कृतिक वातावरण के प्रति उसके मन में सन्देह भी होता है और आशा-निराशा की मिली-जुली भावनायें भी रहती हैं । वर्तमान से संघर्ष में मनुष्य बहुत कुछ जानते हुए भी अनिश्चयात्मक स्थिति में रहता है और प्राय: वह उन सांस्कृतिक मूल्यों से अलग-अलग सा पड़ जाता है जो उसे विस्तीर्ण अतीत से वर्तमान में लाये हैं । युगचिन्तक साहित्यकार से, जो निश्चय ही समाज और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस सूत्र को कभी भी टूटने न दे जो हमें अतीत से वर्तमान में लाया है । द्विवेदी जी के सांस्कृतिक विचारों का यही ध्येय, उद्देश्य और मन्तव्य है । उन्होंने अपने समस्त लेखन में यह स्थापित किया है कि संस्कृति देश, काल, जाति, धर्म, दर्शन तक सीमित न होकर मनुष्य के सम्पूर्ण विकास की धारा है । `यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना है, जो कुछ जैसा होने वाला है, उसको वैसा ही न मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, यही मनुष्य की मनुष्यता है । - - - - -- - प्रयोजन के जो अतीत हैं, वहां मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है, वहां मनुष्य की उर्ध्वगामी वृत्ति को सन्तोष होता है । वस्तुत: अतीत की सफलताओं और असफलताओं से मिलने वाला बल मनुष्य को उर्ध्वगामी बनाता है और इसी से संस्कृति विकसित होती है, परन्तु यह एक बात है । इससे भी महत्वपूर्ण किन्तु दुश्चिन्तापूर्ण बात यह है कि उर्ध्वगामी होने के प्रयास में यह समझना कठिन हो जाता है कि कैसे भारत की सीमाएं पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस की अर्धरात्रि को अकस्मात् संकुचित हो गयी । इस सन्दर्भ में यह भी समझना कठिन हो जाता.है कि कैसे हम उस महान संस्कृति के उत्तराधिकारी आज सांस्कृतिक दुर्दशा को.प्राप्त हो रहे हैं ।.इस बात को सामान्य धरातल पर सोचना और तदनरूप किसी विचार को स्थापित करना आज नक्कारखाने में तूती बजाने के समान है किन्तु फिर भी द्विवेदी जी के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक

चिन्तन के आधार पर हमें यह कहने में अधिक युक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती कि हमारा राष्ट्र एक ऐसा समाज है जिसकी चेतना अपनी सांस्कृतिक धरोहर के प्रति न्यूनाधिक रूप में जागरूक है । द्विवेदी जी का सांस्कृतिक चिन्तन इस युक्ति की एक कड़ी है । `चारु चन्द्रलेख` में सातवाहन जो कुछ सोचता है उसमें हमें इसी राष्ट्रीय चेतना के दर्शन होते हैं । `अनामदास का पोथा` में भारत के सांस्कृतिक चिन्तन का बड़ा सरल किन्तु गूढ़ रूप देखने को मिलता है ।

तृतीय अध्याय में भारतीय संस्कृति की कसौटी पर द्विवेदी जी की आधारभूत सामाजिक मान्यताएं, उनका महत्व, उनकी जीवन दृष्टि, सर्वोत्कृष्ट जीवन, आदर्श में व्यवहारिक उपयोग तथा उसकी उपलब्धि इत्यादि का विवेचन नूतन दृष्टि से मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है । संस्कृति के सन्दर्भ में मनुष्य और उसके समाज तथा उससे सम्बन्धित संस्थाओं के विकास का वर्णन और व्याख्या तभी की जा सकती है, जबकि मानव स्वभाव और सामाजिक प्रक्रिया के विषय में मौलिक धारणाओं को स्पष्ट रूप में समझा जाय । यह समझ विषयों के अर्थ में नहीं, किन्तु विचारों, प्रयोजनों और भावनाओं को संगठित समष्टि के अर्थ में प्राप्त की जानी चाहिए । व्यक्ति के लिये जो व्यक्तित्व है वही समाज के लिए संस्कृति है ।

इस अध्याय में द्विवेदी जी के साहित्य में संस्कृति के इस सामाजिक विकास की चर्चा करते हुए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप प्रयोजन, निर्देश और आदर्शों की व्यापक चर्चा की गई है । इसका निष्कर्ष इंगित करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय समाज और उसकी संस्थाओं के विकास में दो पक्ष सदैव कार्यरत रहे । पहला पक्ष भौतिक है और दूसरा आध्यात्मिक । प्रत्येक समाज के विकास की परम्परा में कृत्रिम पदार्थों का एक संसार विद्यमान रहता है, जैसे कि औज़ार और हथियार, कलाकृतियां आदि । संस्कृति के विकास का अंग बनने में ये भौतिक पदार्थ मानव प्रयोजनों के मूर्त रूप बन जाते हैं । संस्कृति के भीतर उनका प्रवेश स्वरूपतः नहीं किन्तु होता है ।

भारतीय संस्कृति के इस भौतिक पक्ष की सार्थकता को निर्दिष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने यह स्थापित किया है कि भौतिक साधन अर्थ,उद्योग, विज्ञान आदि उत्पादनों के साधन का निर्णय करते हैं और तदनुसार सामाजिक सम्बन्ध निर्मित होते हैं, किन्तु भौतिक पक्ष से अलग भारतीय संस्कृति के विकास का जो आध्यात्मिक पक्ष है वही द्विवेदी जी को विशेष मान्य है । वे यह मानकर चलते हैं कि भौतिक सुख भोग और स्थूल उपलब्धियां आधार तो बन सकती हैं किन्तु मन्तव्य नहीं । उनके इस विश्वास से यह प्रतीत हो सकता है कि वे सांस्कृतिक-सामाजिक संस्थाओं के विकास में उत्पादन पद्धतिपरक मार्क्सवादी विचार का विरोध करते हैं । अपने अर्थनीति की आलोचना की भूमिका में मार्क्स ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है कि सामाजिक सत्ता, सामाजिक चेतना को निर्धारित करती है ।

द्विवेदी जी के अनुसार धर्म और दर्शन, साहित्य और कला ऊपर की मंजिल की तरह उत्पत्तिश: गौण है । इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी द्वारा की गयी सांस्कृतिक चर्चा में हमें सामन्ती संस्कृति का स्वरूप देखने को मिलता है । विशेषकर उनके उपन्यासों में सामन्ती चरित्र मिलते हैं । इनमें द्विवेदी जी ने धर्म, संस्कृति और समाज व्यवस्था की जो व्याख्या की है वह मार्क्सवादी विचारधारा के विपरीत पड़ती है । वे पूर्ण समता की बात को कल्पना की वस्तु बताते हुए यह स्थापित करते हैं कि समाज में हर व्यक्ति निम्नतम या उच्चतम उत्तरदायित्व को सामाजिक हित के लिये प्राप्त करता है । इस उत्तरदायित्व और सम्मान की उपलब्धि में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति ही विशेष उल्लेखनीय होती है न कि विशिष्ट आर्थिक स्थिति । फिर भी संस्कृति का विकास और समृद्ध होने में अर्थ का विशेष महत्व होता है । भौतिक और आध्यात्मिक द्विस्वाभाविकता के सामंजस्य से ही संस्कृति विकसित होती है । इस द्विस्वाभाविकता का ही परिणाम है कि भारतीय संस्कृति के विकास में सदैव ही एक आन्तरिक और एक बाह्य कारण परम्परा विद्यमान रही है ।

कि भारतीय संस्कृति का आरम्भ एक विशिष्ट अध्यात्मिक विकास की अवस्था तथा प्राकृतिक सीमा के अनुकूल साध्य और साधन की धारणा के साथ हुआ । इसने अपने विकास के अविच्छिन्न काल में सदैव ही मनुष्य के परमार्थ सुख और उसकी प्राप्ति के साधनों का समष्टि रूप में निर्देशन किया है । द्विवेदी जी ने उपर्युक्त निर्देशन की तर्कसम्मत व्याख्या की है । उनके समस्त लेखन का निष्कर्ष यह है कि भारतीय संस्कृति की सनातनता का कारण उसके परमार्थिक आदर्शों की एकता और स्वतन्त्रतापूर्वक नई दृष्टि का पाने की क्षमता है ।

भारतीय समाज ने आधिभौतिक अभ्युदय की दिशा में कम प्रगति की यह सोचना भ्रान्ति मात्र है । भोजन, पान, सौन्दर्य प्रसाधन, वस्त्र और परिधान, बसति विन्यास, यात्रा पथ, मनोविनोद आदि का विवेचन दूसरे अध्याय में करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि ऐन्द्रिय का भोग विलास की ओर जो जन-साधारण की अभिरुचि थी, उसका कहां तक परिष्कार हुआ था । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उस समाज में सदा एक महत्वपूर्ण वर्ग था और सम्भवत: वह वर्ग तत्कालीन समाज के द्वारा सर्वाधिक सम्मानित था । जिसने भोजन, पान, वस्त्रादि को जीवन-धारण करने का साधन मात्र माना हुआ था, और उनके द्वारा ऐश्वर्य और विलास का प्रदर्शन करना सर्वोपरि वृत्ति समझा । इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत में मनोरंजन तथा विलासिता के साधन पर्याप्त विकसित थे । परन्तु इनका उपभोग करने का सर्वसाधारण को न तो साधन ही प्राप्त थे और न ही वे इनको बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे । कृषक प्रधान समाज और आध्यात्मिक तथा धार्मिक वृत्ति वाले लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग था जो 'रूखा-सूखा खाकर ठंडा पानी पी' के व्यवहार के अनुसार जीवन-यापन करता था । फिर भी यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि सम्भ्रान्त 'नागरक' की वृत्ति को तुष्ट करने के साधनों को जुटाने और निर्माण करने के कार्यों में पर्याप्त संख्या में लोगों को अर्थोपार्जन एवं जीविकोपार्जन के अवसर प्राप्त हो रहे थे । इससे उद्योग धन्धों के विकास में सहायता मिली और आयात निर्यात को प्रोत्साहन

मिला ।

द्विवेदी जी ने सामाजिक जीवन में रस और विलास की वृत्ति अपनाने वाले वर्ग का बहुत सूक्ष्म और स्पष्ट उल्लेख किया है । इन प्रसंगों की प्राचीनता का आधुनिकता के साथ समन्वय जोड़ते हुए उन्होंने यह इंगित किया है कि आधुनिक समाज की दुर्व्यवस्था का बहुत कुछ कारण यही है कि बाह्य प्रदर्शन की प्रवृत्तियां अनावरुद्ध हैं और लोग साधन विहीन होते हुए भी सभी अवस्थाओं में ग्रहणीय मानते हैं । भ्रष्टाचार, अनैतिकता और राजनीतिक जीवन के प्रदूषित होने का भी यही कारण है कि उचित साधनों के अभाव में मनुष्य भौतिक सुख की आकांक्षाओं की पूर्ति करने का अनेक प्रकार से प्रयास करते हैं ।

सृष्टि की मेरुदण्ड नारी को विश्व के किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदण्ड माना गया । वस्तुत: किसी भी राष्ट्र या समाज के सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए नारी-पुरुष दोनों के कृतित्व का समान महत्व है । इस सन्दर्भ में सांस्कृतिक योगदान के लिये पुरुष के साथ-साथ नारी के व्यक्तित्व को विकसित करना और समाज में उसे यथोचित स्थान देना परम आवश्यक हो जाता है । भारत में नारी की शक्ति का विकास और सदुपयोग करने का उत्तरदायित्व पुरुषों पर रहा है । इस सत्य को स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने इस परम्परागत विचार का खण्डन किया है कि स्त्री को स्त्री ही समझ सकती है और पुरुष नहीं समझ सकता । उनका विचार है कि स्त्री को पुरुष और स्त्री के सहयोग की पृष्ठभूमि में अच्छी तरह समझा जा सकता है । जहां तक भारत में स्त्री की स्थिति तथा दशा का सम्बन्ध है यह बात निर्विवाद रूप में स्वीकार की जा सकती है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक रूप नहीं रही । प्रारम्भ में उनका जीवन स्वतन्त्र नहीं था और वे पिता, पति, पुत्र के नियन्त्रण में रहीं । प्राचीन साहित्य और कला में स्त्रियां लौकिक तथा धार्मिक कृत्यों में पतियों के साथ दिखाई गयी हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि वे सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं । अनेक स्त्रियों ने शासन-भार संभाला था । अनेक महिलायें, प्रतिष्ठित शिक्षिकायें भी

थी । इसके विपरीत कन्याओं का उपनयन संस्कार नहीं किया जाता था । उन्हें अबला कहकर उनकी स्वतन्त्रता को संकुचित किया जाता था । समग्र रूप में प्राचीनकाल में नारी को आदर्श एवं मर्यादायुक्त सम्मान प्राप्त था । नारी को सर्वशक्ति सम्पन्न मानते हुये उसे विद्या, यश, और सम्पत्ति का प्रतीक स्वीकार किया गया था । स्त्रियों को अधिक सम्मान दिया जाना भारतीय संस्कृति की समृद्धि की स्पष्ट करता है । स्त्रियों के मातृरूप को देवकोटि में रखा गया । इसी प्रकार उसके भार्या एवं गृहणिीरूप को इस स्थिति में रख दिया गया था कि सभी देवताओं की प्रसन्नता का आधार स्त्रियों की पूज्यनीयता हो जाती थी । सांस्कृतिक वृद्धि करने वाले संस्कार तथा उत्सव आदि के अवसर पर सदा वस्त्र, अलंकार, आभूषण आदि से स्त्रियों को पूजित करते रहने का आदेश था । इस प्रकार के सम्मान का क्या कारण था ? द्विवेदी जी ने इस प्रश्न का युक्तिसंगत उत्तर 'महिलाओं की लिखी कहानियाँ' तथा 'धार्मिक एवं सच्चरित्र नारी कुटुम्ब की शोभा है' नामक निबन्धों में तथा अपने उपन्यासों के नारी पात्रों के माध्यम से दिया है । उन्होंने यह आग्रह किया है कि उचित शिक्षा की व्यवस्था करके नारी को समाज में अधिकाधिक परिष्कृत बनाया जाये और परम्परा से प्राप्त आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाय ।

चतुर्थ अध्याय में द्विवेदी जी के विचार चिन्तन के आधार पर आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्शों का विचार किया गया है । आर्थिक उत्पादन का क्रम मनुष्य जीवन के सब पहलुओं पर, उनके रहन-सहन, भोजन पर भी गहरा प्रभाव डालता है और बहुत कुछ हमारी संस्कृति का रूप निश्चित करता है ।

द्विवेदी जी के मतानुसार जीवन का स्तर केवल आर्थिक सुविधाओं से ऊंचा नहीं होता, उसमें आदर्श की ओर बढ़ने की प्रेरणा चाहिए और उस प्रेरणा को मूर्तिमान करने के लिये तपस्या चाहिए । मनुष्य जीवन की सफलता इन्द्रिय भोगों की प्रचुरता में नहीं किन्तु उनके नियन्त्रण में है । देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए हम अपने आवश्यकताएं बढ़ाएं और उसकी पूर्ति की

योजनाएं बनायें -- यह अर्थशास्त्र को उल्टा समझना है । अर्थशास्त्र जब जीवन को भोग-लिप्सा की ओर ले जाने में प्रवृत्त होता है तब वह अपने कर्तव्य से गिर जाता है । सम्पत्ति की वृद्धि मनुष्य के जीवन का आदर्श नहीं हो सकती। उसमें सुख देने की भी शक्ति सब अवस्था में नहीं है । उसकी उपयोगिता इसी में है कि समाज के काम आकर सामाजिक जीवन को अधिक पूर्ण बनायें ।

राजनीतिक चिन्तन और राजनीतिक व्यवहार भारतीय साहित्य और संस्कृति का एक प्रधान विषय रहा है । द्विवेदी जी के साहित्य में, राजनीतिक सन्दर्भ में प्रजा की पीड़ा के अनेक प्रसंग मिलते हैं । फिर भी एक ऐसा वर्ग था, जिसने अपने को राज्य के बन्धनों से मुक्त रखा । दार्शनिकों, चिन्तकों, तपस्वियों तथा ज्योतियों ने `अस्माकं तु सोमो राजा` घोषित किया हुआ था । द्विवेदी जी की राजनीतिक विचारधारा बहुत कुछ ऐसी है । उनका `मानवतावाद` प्राचीन राजतन्त्रात्मक प्रणाली सम्राट के `देवस्वरूप` से कैसे मेल खा सकता है ? वे तो ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें न तो राज्य, न सैन्य संगठन और न ही सम्पत्ति का मोह । द्विवेदी जी इसमें ही सामाजिक शोषण से मुक्ति और मानव की जययात्रा की परिणति मानते हैं ।

प्राचीन भारत में कल्याणकारी राज्य की परम्परा पर्याप्त विकसित थी । कोटि-कोटि व्याकुल और त्रस्त जनता का रक्षक बनने का उत्तरदायित्व लेने वाला चक्रवर्ती सम्राट के प्राचीन स्वरूप को द्विवेदी जी ने भारतीय राजनीतिक परम्परा का एक विशिष्ट आदर्श बताया है । भारत में राज्य का मूल उद्देश्य तीन आदर्शों -- धर्म, अर्थ, और काम-की प्राप्ति था । इस सन्दर्भ में देवत्व राजपद में निवास करता था न कि राजा में । राजा का व्यक्तित्व राज्य में समाहित था । शासक का व्यक्तिगत जीवन धर्माचार में लगे रहने से अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध का नियामक होता है ।

परवर्ती युग में राजाओं के जीवन में विलासिता का प्रकर्ष, पारस्परिक वैमनस्य की संवृद्धि और अकर्मण्यता के प्रभाव से प्रजापालन वृत्ति में शिथिलता आ गयी । इसके परिणाम भारत की गौरवमयी सांस्कृतिक

परम्परा के ह्रास में भलीभांति देखे जा सकते हैं । द्विवेदी जी के साहित्य में हमें सामन्तवादी जीवन के जो संकेत मिलते हैं उनसे मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का परिचय मिलता है ।

आधुनिक विचारधारा के सन्दर्भ में भारत के प्राचीन राजनीतिक आदर्श महान तो लगते हैं परन्तु उनका व्यवहार अब सम्भव नहीं । आज का राजनीतिक चिन्तक राज्य की सीमाओं को पार कर चुका है । आज कोई भी समस्या एकदेशीय नहीं है । समस्याओं के समाधान ने साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, साम्यवाद आदि को जन्म दिया है । इसके परिणाम और मन्तव्य से सभी सुपरिचित हैं । इस चिन्ता के चिन्तन में द्विवेदी जी ने मानवतावाद को पुष्ट किया है । राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने मानवतावाद को निखिल का बल निरूपित किया है ।

पंचम अध्याय में धर्म, दर्शन और नैतिकता का स्वरूप विवेचित किया गया है । द्विवेदी जी धर्म और दर्शन को मात्र पारम्परिक कर्मकाण्ड की संज्ञा नहीं देते ।

भारतीय धर्म की परिधि अतिशय विशाल रही है । धर्म के आदर्श सृष्टि के आदि तत्व ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों से अनुबद्ध है । वैदिक धारणा के अनुसार देवता अतिशय समर्थ है । वे अमर हैं । लोगों की धारणा रही है कि अभ्युदय के पथ में यजन-पूजन और भक्ति द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करके मनोनुकूल फल प्राप्त किया जा सकता है । देवताओं के चरित्र को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को उसकी ओर अग्रसर करने का उत्साह भारतीय धर्म की अद्भुत देन है । इसके साथ ही प्राकृतिक विधान में भी धर्म का अस्तित्व अनुभव किया गया कि सृष्टि के रचयिता के लिये देव, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, नदी, समुद्र, सूर्य-नक्षत्र आदि सबकी स्थिति रक्षणीय है ।

जिससे कि दूसरे के धर्म में बाधा पड़े । मानव धर्म भी ऐसा होना चाहिए जो सबकी प्रतिष्ठा के लिए हो । धर्म के विषय में भारत के इस शाश्वत दृष्टिकोण को द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में भलीभांति उजागर किया है । उनका विश्वास है कि धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है जिस सिद्धान्त द्वारा व्यष्टि और समष्टि अंगांगि भाव से सम्बद्ध रहते हैं, वही धर्म है ।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक साधना और धर्म मूलतत्व है । अपने गम्भीरतम रूप में भारतीय संस्कृति मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष का प्रकाशन करती है । धर्म के सांस्कृतिक तत्वों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी मनुष्य के अन्दर के देवता को महत्व देते हुए अन्तर्यामी को प्रमाण मानते हैं । उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि भारतीय धर्म का सांस्कृतिक तत्वों से तादात्म्य स्थापित करके ही मूल एकता को स्थापित किया जा सकता है ।

मानव कैसा व्यवहार करे ? धर्म के इस महत्वपूर्ण अंग का नाम आचारशास्त्र है । आचरण की सार्थकता जीवन का तत्व है । युगों से मनुष्य ने स्वर्ग के सुख के स्वरूप को परिभाषित करने का प्रयास किया है । इस प्रयास में साध्य और साधन अनुभव के बढ़ने के साथ विकसित हुए हैं । भारतीय संस्कृति का यह साधन समूह अपने धर्म सामंजस्य में समरसता का सम्पादक है और सर्वतो-भावेन स्वीकार्यणीय है । द्विवेदी जी ने अपने धार्मिक चिन्तन और अभिव्यक्ति में समस्त धार्मिक तत्वों का मंथन किया है ।

प्राचीनकाल से भारत अपनी दार्शनिक प्रवृत्तियों के लिये विख्यात रहा है । इस देश में दार्शनिक विचारों के अध्ययन और मनन को विद्वानों ने अपने जीवन का 'परम' उद्देश्य माना था । दर्शन को सभी विद्याओं का आदि स्रोत माना गया । यही कारण है कि राष्ट्रीय जीवन की समग्र गतिविधियों पर दर्शन का अप्रतिम प्रभाव रहा है । भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता है - दर्शन का मोक्षपरक होना ।

है कि शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है । जब तक मनुष्य का मन बाहर और भीतर शुद्ध, निर्मल और पवित्र नहीं होते तब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है । यह जो बाह्य और अन्त:करणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है ।"

द्विवेदी जी की सम्पूर्ण साहित्य-साधना का लक्ष्य मनुष्य है । मनुष्य को सृष्टि की श्रेष्ठतम रचना मानते हुए उन्होंने मनुष्य की हितरक्षा, उसके सर्वप्रकारेण मंगल और कल्याण को सर्वोपरि घोषित किया है । मानवतावाद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की विचारधारा क्रान्तिकारी होते हुये भी उदार सहिष्णु तथा समन्वयवादी है ।

मानवतावाद मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है, इसके अनुसार वे दार्शनिक तथा नैतिक सिद्धान्त जो मनुष्य और उसकी व्यावहारिक समस्याओं से अलग हैं, जो केवल शास्त्रीय, पाण्डित्यपूर्ण, अमूर्त, दुर्बोध, शुष्क तथा साम्प्रदायिक हैं - मानवतावाद के विरुद्ध हैं । आधुनिक युग के आरम्भिक चरणों में मशीनीकरण, औद्योगिक क्रान्ति तथा साम्राज्यवाद के बढ़ते प्रभाव ने भारत में मानवतावादी दर्शन के विषय में चिन्तन को बढ़ावा दिया । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह अनुभव किया कि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, आदि के बढ़ते प्रभाव में मनुष्य निश्चय ही खो जायेगा । अत: उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि सब प्राणियों में ज्ञान द्वारा, प्रेम द्वारा और सेवा द्वारा सद्भाव रखना और इस प्रकार सर्व व्यापक में अपने रूप को अनुभव करना ही मानव धर्म का सर्वश्रेष्ठ तत्व है । द्विवेदी जी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इसी मानवतावाद के अनुसरण कर्ता हैं ।

नैतिकता के अन्तर्गत सामान्यतया सदाचार, सत्य वचन पालन, विषय वासनाओं का त्याग, इन्द्रियों पर वश रखना, कर्तव्यपालन, अहिंसा, स्वप्रशंसा न करना, गुरुजनों का आदर, देवपरायणता, आध्यात्मिकता, सहिष्णुता, कर्मप्रधानता, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय, असाम्प्रदायिकता आदि एवं मन, वचन और कर्म से जीवन के

आचारों के प्रति निष्ठा रखना आदि का विचार किया गया है । नैतिकता स्वयं अपने आप में धर्म है ।

द्विवेदी जी ने सामाजिक जीवन में ही नहीं वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान और सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति में नैतिकता को आधार माना है । भारत में नीतिबोध के अन्तर्गत जिन तत्वों पर विचार किया जाता रहा है उनमें आचार और धर्म विशिष्ट रहे हैं । इस दृष्टि से नीतिशास्त्र की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि नीतिशास्त्र दर्शन का वह पक्ष है जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता रहा है और यथासम्भव नैतिक व्यवहार को नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है ।

वर्तमान युग में नैतिकता के मापदण्डों के ह्रास के प्रति द्विवेदी जी ने विशेष चिन्ता अभिव्यक्त किया है और यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि हमारे देश की सामूहिक समस्या चरित्रगत कमजोरी है । नैतिकता के सन्दर्भ में पाप और पुण्य की चर्चा भारतीय साहित्य में प्रचुर रूप में मिलती है जिसका निष्कर्ष यह है कि पाप अयथार्थ है और इसे पुण्य में अवश्य परिवर्तित होना है । यह परिवर्तन पाप का प्रायश्चित किये जाने में सम्भव बताया गया है ।

अष्ठम अध्याय में साहित्य, शिक्षा और कला का विवेचन किया गया है । आचार्य द्विवेदी की साहित्य सम्बन्धी मान्यताएं अत्यन्त व्यापक हैं । द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबन्धों में साहित्य की विशद व्याख्या की है । साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर बोध को वे आवश्यक मानते हैं । जीवन मूल्यों से विच्छिन्न कलात्मक साधना उनके लिए निरर्थक है । वे साहित्य अथवा कला को मानवीय दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं ।

सांस्कृतिक सन्दर्भ में साहित्य के विषय में विचार करने पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि साहित्य का क्या लक्ष्य होना चाहिए ? द्विवेदी जी ने मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य निर्धारित किया है । हमारे समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य यही मनुष्य है । उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य में

आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है । सर्वभूत का कल्याण ही साहित्य का चरम लक्ष्य है । साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित-साधन करता है या नहीं । उनकी दृष्टि में मनुष्यता ही सर्वोपरि है । साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है । द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा है कि जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता ; जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता ; जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता, ऐसे साहित्य को `साहित्य` कहने में मुझे संकोच होता है, चाहे उसे कितने बड़े दल का समर्थन प्राप्त हो । साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो ।

द्विवेदी जी के साहित्य में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ नैतिकता, आस्तिकता, सत्य एवं निष्ठा के प्रति समग्र समर्पण गरीबी के उन्मूलन के प्रति दृढ़संकल्प, नारी की स्वतन्त्रता, अछूतों के साथ समान व्यवहार, भारत के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था, व्यक्ति और समष्टि की समान उन्नति, सामूहिक चेतना, समता मानव की अपार शक्ति में विश्वास एवं मानवमात्र के प्रति भाईचारे की भावना, ये सभी सात्विक भाव मिलते हैं । शिक्षा के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । भारतीय साहित्य में जो अपूर्व विविधता है उसका आधार निश्चय ही प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली थी । शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान से जीवन में निपुणता प्राप्त होती है ।

द्विवेदी जी ने प्राचीन भारत की गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर व्यापक चर्चा किया है । भारतीय मनीषियों ने ज्ञान प्राप्ति के प्रमुख साधन शिक्षा को उसकी व्यापकता के अनुसार बहुत महत्व प्रदान किया था । इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वांगपूर्ण विकास करना था । सम्पूर्ण शिक्षण का क्रम इस प्रकार से निर्धारित किया गया था जिससे कि जीवन शिष्टाचार, मर्यादा और आत्म संयमपूर्ण हो ।

'सादा जीवन और उच्च विचार' विद्यार्थियों के लिये आदर्श माने जाते थे। शिक्षकों के दो केन्द्र बिन्दु गुरु और शिष्य के सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से द्विवेदी जी ने विचार किया है।

द्विवेदी जी ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि भारतीय मनीषा ने अनेक प्रयोगों के भीतर एक बात को सदा मुख्य स्थान दिया है। शिक्षा का मुख्य साधन उत्तम गुरु है। कोई निश्चित प्रणाली या योजना उतने महत्व की वस्तु नहीं है, जितना उदार, निःस्पृह और प्रेमी गुरु'। द्विवेदी जी ने 'गुरु' के चरित्रवान होने पर विशेष बल दिया है। द्विवेदी जी ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली की विशेषता बताते हैं कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आदर्शात्मक था। गुरुकुल प्रणाली का प्रचलन था और इसके अन्तर्गत प्रदान की जाने वाली शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास था। अनुशासन की बहुत प्रतिष्ठा थी।

द्विवेदी जी ने 'गुरु शिष्य परम्परा' के आदर्श पर बल देते हुए कहते हैं, 'यद्यपि नई शिक्षा प्रणाली के कारण इसके कुछ धूमिल होने की आशंका है फिर भी इसे यत्नपूर्वक बचा रखने और सतेज करने की आवश्यकता है। द्विवेदी जी कहते हैं कि शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ बदल गया है। क्योंकि अब रोजगार की तलाश में विद्यार्थी विश्वविद्यालय जाते हैं न कि विशुद्ध ज्ञान की तलाश में क्योंकि उनके मूल में यही सामाजिक परिस्थिति है। यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में भारत में उच्चतम मानदंड स्थापित हुए परन्तु समय के साथ बदलती हुई परिस्थिति से वह अपना सामंजस्य न कर पाई। व्यावसायिक प्रवृत्ति तथा जीवन-मूल्यों के प्रति आदर्शों के प्रति उदासीनता के भाव में शिक्षा को असंगत बना दिया।

द्विवेदी जी एक साहित्यकार के साथ एक प्रतिष्ठित शिक्षाविद थे। अतः उन्होंने शिक्षा के सन्दर्भ में अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हुए युक्तिसंगत समाधान सुझाये हैं। वर्तमान तथा आनेवाली पीढ़ी को यह सन्देश दिया है कि वे ऐसी शिक्षा की साधना करें जिससे कि सत्य, धर्म, निरन्तर ज्ञान

ग्रहण करने की क्षमता का कभी ह्रास न हो । शिक्षा की सार्थकता पर बल देते हुए द्विवेदी जी कहते हैं - शिक्षा तभी सार्थक होती है जब वह संयम, इन्द्रियनिग्रह और विवेक से अनुशासित होती है और सेवा तथा प्रेम को सामने रखकर चलती है । द्विवेदी जी उस शिक्षा को शिक्षा नहीं मानते जो संवेदनशून्य और निष्क्रिय बना दे ।

`ललित और शोधपरक` निबन्ध में द्विवेदी जी ने `कला का प्रयोजन` शीर्षक के अन्तर्गत `कला` की व्यापक चर्चा किया है । द्विवेदी जी ने स्पष्ट लिखा है कि कला शब्द का प्रयोग हमारे देश में कई हजार वर्षों से हो रहा है । उसका अर्थ निश्चित हो गया है, उसका प्रयोजन भी निर्धारित हो चुका है ।

कला एक ऐसी शक्ति है जिसका कार्य समाज की प्रत्येक व्यवस्था, रुचि तथा भावों की प्रत्येक अभिव्यक्ति के स्तर को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाना है । कला का शुद्ध स्वभाव, भोग रूप और अभिव्यक्ति के माध्यम से कलाकृतियों का सृजन और आस्वादन है । यह सृजन और आस्वादन ऊंचे और नीचे कई स्तरों पर सम्भव है । कला अभिव्यक्ति तथा निर्मिति के लिये मानदण्ड का आविष्कार करती है । कला का अपना विशेष मानदंड सुन्दर और असुन्दर का भेद करना है । यह भेद केवल `भोग` अथवा `माध्यम` रूप-विन्यास अभिव्यक्ति के प्रकार पर निर्भर करता है । कला समाज में पलती है जहां संस्कृति आदि दूसरे प्रभाव रहते हैं । फलत: एक ओर कला अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए मान और मूल्य का बल ग्रहण करके अग्रसर होती रही है और दूसरी ओर संस्कृति अपनी रुचि के मान और मूल्यों का कला के ऊपर आरोपित करती रही है । एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है कि कला का जीवन से कितना गहरा सम्बन्ध है ।

वे साहित्य और कला को मानवीय दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं । भारतीय कला में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की भावना किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है । यही कला का सत्य है । जिसे दृष्टिपथ में रखते हुये

किसी भारतीय विचारक ने कहा है, 'कला सत्यं, शिवं, सुन्दरं से सजी कामिनी है। कला मूलत: आत्माभिव्यंजक और आत्मपरक साधना है। वह सृष्टि है, सौन्दर्य का साकार स्वरूप है। भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता आनन्दोपलब्धि में है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में कला वह है जो बहु-उपभोग की प्रवंचना से बचाकर परमानन्द में मनुष्य को लीन कर दे :

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।

द्विवेदी जी के मतानुसार -- 'कला सदैव मानव जीवन से प्रसूत होती है और उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। कला उन सारी बातों का जीवन्त विवरण है जिन्हें मनुष्य ने देखा है, सोचा है, वह मनुष्य की उस सुसंस्कृत प्रतिभा से उत्पन्न होती है जो उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्यत्व के महान आसन पर बैठाती है। सच्ची कला वही है जो मनुष्य को लोभ मोह का गुलाम न रहने दे, केवल उदरपरायण इन्द्रियदास न बन जाने दे, बल्कि उसे स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठाये, पर दु:खकातर बनाये, संवेदनशील बनाये। वस्तुत: अभिव्यक्ति की विधा को कला कहते हैं। यह वह कौशल है जिससे कोई कार्य सम्पन्न होता है। कला हमारे जीवन, विचार-धाराओं, आध्यात्मिक समृद्धि तथा लोककल्याण को समेटे हुए उच्च शिखर पर ले जाती है। कला मानव की गम्भीरतम अनुभूतियों, भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी के साहित्य में भारतीय संस्कृति का आदर्शरूप देखने को मिलता है। मानव मात्र के प्रति कल्याण की भावना होनी चाहिए जहां समानता का वातावरण हो, मानव का मानव से द्वेषभाव न हो, न ऊंच हो न नीच, जहां दोनों का सामंजस्य एवं सन्तुलन हो, आर्थिक दृष्टि से जीवन में कोई दुखी न हो अर्थात् सामाजिक एकरूपता हो, पूंजी और श्रम का सन्तुलन हो, जिसका उद्देश्य आदर्श और मानवता का उत्थान, उत्कर्ष और कल्याणकारी हो, द्विवेदी जी ने ऐसी भारतीय संस्कृति का स्वरूप अपने साहित्य में निरूपित किया है।

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

१- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९८१

३- मध्यकालीन भारत का इतिहास - डा० ईश्वरी प्रसाद

४- संस्कृति के चार अध्याय - श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' १९८६

५- भारतीय संस्कृति - डा० देवराज, १९६१

६- भारतीय संस्कृति - डा० भरतसिंह उपाध्याय

७- भारतीय संस्कृति की कहानी - भगवतशरण उपाध्याय, १९५५,
राजकमल प्रकाशन।

८- भारतीय संस्कृति - बलदेवप्रसाद मिश्र, १९५२

९- भारतीय संस्कृति - वाचस्पति गैरोला

१०- वैदिक संस्कृति और दर्शन - डा० विश्वम्भरदयाल अवस्थी

११- भारतीय संस्कृति - डा० ठल्लन जी गोपाल
तथा डा० ब्रजनाथ सिंह यादव

१२- भारतीय इतिहास, संस्कृति और समाज - हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग
सम्पादक - डा० गंगासागर तिवारी- १९८६

१३- भारतीय सामाजिक व्यवस्था - प्रकाशचन्द्र दीक्षित, १९७७,
प्रकाशक ब्रह्मदत्त दीक्षित, निदेशक उत्तर प्रदेश ग्रन्थ अकादमी,लखनऊ

१४- भारतीय संस्कृति - गुलाबराय, रवीन्द्र प्रकाशन, १९७४-७५

१५- पूर्व-पश्चिम - कुछ विचार - डा० राधाकृष्णन-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, सं० १९६२

१६- प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति और दर्शन - डा० ईश्वरीप्रसाद तथा शैलेन्द्र शर्मा, १९७८ ।

१७- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, संस्करण १९५१ ।

१८- भारतीय संस्कृति - म० म० पण्डितराव श्रीगोपाल शास्त्री (दर्शन केशरी) १९५२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१९- प्राचीन भारतीय संस्कृति - शैलेन्द्र शर्मा, मोनू पब्लिकेशन, इलाहाबाद, १९७८

२०-इतिहास और साहित्येतिहास - डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, १९८१

२१- भारत की प्राचीन संस्कृति - रामजी उपाध्याय, १९८५

२२- भारतीय दर्शन - डा० राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरीगेट, दिल्ली, १९८६

२३- भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय, १९४२

२४- भारतीय दर्शन - संगमलाल पाण्डेय

२५- भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र - १९५७

२६- भारतीय दर्शन - डा० देवराज

२७- भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं - परशुराम चतुर्वेदी

२८- भारतीय संस्कृति में नाटकों का स्वरूप - डा० कात्यायनी सिंह,

२६- हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास - डा० मोहन अवस्थी,
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण १६७०।

३०- जाति संस्कृति और समाजवाद - स्वामी विवेकानन्द - १६७४,
श्रीरामकृष्ण आश्रम-नागपुर

३१- दूसरी परम्परा की खोज - डा० नामवर सिंह

३२- इतिहास और आलोचक दृष्टि - रामस्वरूप चतुर्वेदी

३३- श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन - डा० रामानन्द तिवारी, शास्त्री,
१६४२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

३४- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - ओमप्रकाश

३५- प्राचीन भारत का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास -
डा० एम० पी० श्रीवास्तव

३६- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १६८६।

३७- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - विशेषांक - सम्मेलन पत्रिका

३८- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य का एक समग्र अनुशीलन --
डा० यदुनाथ चौबे, १६८०।

३६- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, व्यक्तित्व और कृतित्व -- डा० पी०
वासवदत्ता - १६६५, युगवाणी प्रकाशन, कानपुर।

४०- शान्ति निकेतन से शिवालिक तक -- सम्पादक डा० शिवप्रसाद सिंह,
१६६७, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

४१- अष्टछाप कवियों का सांस्कृतिक अध्ययन - डा० मायारानी टण्डन

४२- वाल्मीकि युगीन भारत : डा० मंजुला जायसवाल,
महामति प्रकाशन, इलाहाबाद १९८३

४३- साहित्य - संस्कृति- भाषा विशेषांक
-- सम्मेलन पत्रिका

४४- लोक संस्कृति अंक
-- सम्मेलन पत्रिका

४५- कला विशेषांक
- सम्मेलन पत्रिका

४६- परिशोध -
आचार्य द्विवेदी स्मृति अंक - १९८०
पंजाब युनिवर्सिटी- चण्डीगढ़

४७- नवभारत टाइम्स में प्रकाशित - डा० नामवर सिंह का द्विवेदी जी की
पुण्य स्मृति में, १४ मई, १९८६ ।